

जैन धर्म के साधना-सूत्र

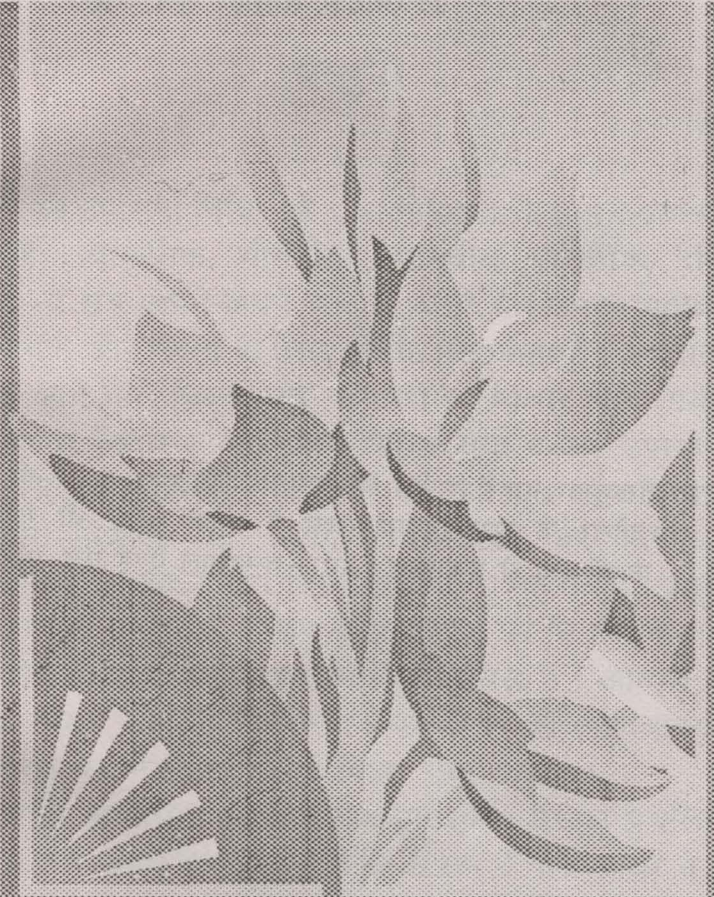


आत्मा की उपासना निर्विघ्न है। आत्मोपासक के सामने यदा-कदा विघ्न आते रहते हैं। प्राकृतिक, भौगोलिक, मानवीय, पाशविक, दैविक और वातावरणीय—ये सब अपने-अपने क्रम से चलते हैं। उनका गतिक्रम किसी के लिए सहायक और किसी के लिए बाधक बन जाता है। अध्यात्म के क्षेत्र में यदा-कदा आने वाले विघ्नों और बाधाओं पर विचार किया गया। उनके उपशमन अथवा निवारण का उपाय खोजा गया। उन उपायों का एक महत्त्वपूर्ण अंग है आवश्यक। दिनचर्या का एक ध्रुव योग है आवश्यक। यह अध्यात्म विशुद्धि का प्रयोग, जागरूकता का दिग्सूचक मंत्र, आत्मनिरीक्षण का अध्यादेश और विघ्ननिवारण का महामंत्र है। प्रस्तुत पुस्तक में अवश्य करणीय अनुष्ठान के रूप में आवश्यक पर विचार किया गया है।

जैन धर्म के साधना सूत्र

आदार्श साहित्य संघ प्रकाशन

जैन धर्म के साधना-सूत्र



आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक : मुनि धनंजकुमार

© आदर्श साहित्य संघ, चूरु

चि. विकासकुमार नाहर (सुपौत्र श्री चम्पालालजी नाहर, सुपुत्र श्री विजयसिंहजी नाहर)
राजलदेसर के शुभ विवाहोपलक्ष्य में उनके चाचा श्री गणेशमलजी नाहर
के सौजन्य से प्रकाशित। द्वारा—चम्पालाल एण्ड संस, पूर्णिया (बिहार)

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राजस्थान)
मूल्य : पचास रुपये / तृतीय संस्करण : १९९९ / मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

IAIN DHARMA KE SADHNA SUTRA by Acharya Mahaprajna Rs. 50.00

प्रस्तुति

आत्मा की उपासना निर्विघ्न है ! आत्मोपासक के सामने यदा-कदा विघ्न आते रहते हैं । प्राकृतिक, भौगोलिक, मानवीय, पाशविक, दैविक और वातावरणीय—ये सब अपने-अपने क्रम से चलते हैं । उनका गतिक्रम किसी के लिए सहायक और किसी के लिए बाधक बन जाता है । अध्यात्म के क्षेत्र में यदा-कदा आने वाले विघ्नों और बाधाओं पर विचार किया गया । उनके उपशमन अथवा निवारण का उपाय खोजा गया । उन उपायों का एक महत्त्वपूर्ण अंग है आवश्यक । दिनचर्या का एक ध्रुव योग है आवश्यक । यह अध्यात्म विशुद्धि का प्रयोग, जागरूकता का दिग्सूचक यंत्र, आत्मनिरीक्षण का अध्यादेश और विघ्ननिवारण का महामंत्र है । प्रस्तुत पुस्तक में अवश्य करणीय अनुष्ठान के रूप में आवश्यक पर विचार किया गया है ।

नमस्कार महामंत्र जैन परम्परा में बहुत प्रसिद्ध है । आबाल, वृद्ध सब लोग उसका स्मरण करते हैं । मंगलपाठ कार्यारम्भ का आदिवाक्य है । इन दोनों के महत्त्व पर भी कुछ विमर्श किया गया है ।

उमास्वाति का प्रसिद्ध ग्रन्थ है मोक्षशास्त्र है । उसका प्रचलित नाम है तत्वार्थ सूत्र । उस महान् ग्रन्थ की पीठिका के रूप में वावकप्रवर ने प्रशमरति प्रकरण की रचना की । उसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की रत्नत्रयी का मार्मिक विवेचन है । प्रस्तुत ग्रन्थ में उसके अल्पांश पर कुछ मनन उपलब्ध है ।

नव तत्त्व या नव सद्भाव पदार्थ जैनधर्म का उपयोगितावाद है । जहां षड्द्रव्य में अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से विचार किया गया है, वहां नवतत्त्व में उपयोगितावादी अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है । जैनधर्म प्रकृति से आध्यात्मिक धर्म है । जैन आचार्यों ने अध्यात्म की साधना

को नाना रूपों में प्रस्तुत कर अध्यात्म जगत् की बहुत बड़ी सेवा की है । प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका विहंगावलोकन मात्र है ।

सरदारशहर प्रवास में पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में आवश्यक और नमस्कार महागंत्र पर कुछ कहा गया । उसका संग्रह इस पुस्तक में उपलब्ध है । पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा मेरे अंतस् को प्रेरित करती है । उसकी स्फुरणा शब्द और अर्थ में बदलकर दूसरों के लिए उपयोगी बन जाती है । प्रस्तुत पुस्तक के संपादन में मुनि धनंजय कुमार ने निष्ठापूर्वक श्रम किया है ।

अध्यात्म-साधना-केन्द्र

नई दिल्ली

२६ जनवरी १९९५

आचार्य महाप्रज्ञ

संपादकीय

- जीवन की उर्वरा
साधना का बीज
बोता है कृषक
फूटता है अध्यात्म अंकुर
संवर की परिखा
निर्जरा का निर्मल जल
मिट जाए बंध का प्रदूषण
पुण्य पाप का उर्वरक
न धोल पाए जहरीले रसायन
जड़ का आक्रमण
आश्रव की आंधी
न कर पाए बर्बादी ।
और एक दिन
वह बीज : वह अंकुर
बन क्षेमंकर
दुर्लभ अमृतफल
बांटेगा प्रत्यक्ष
बन स्वयं कल्पवृक्ष
कृतार्थ जीव
कृतार्थ जीवन
मोक्ष का कर वरण
- महाप्रज्ञ का प्रस्तुत सृजन
साधना-सूत्रों का विश्लेषण
साधना-बीजों का अक्षय कोश

श्रेष्ठ बीज चुनें
 जीवन की उर्वर धरती पर बोएं
 दें धूप, हवा और जल
 न मिले जहरीला रासायनिक दलदल
 उगेगी वह संस्कार पौध
 करेगा मानव अपनी शोध
 विस्तार पाएगा अंकुर
 ज्ञान के पत्र
 दर्शन के पुष्प
 चरित्र के फल
 लहराएगा जीवन आंगन ।
 मिटेगा अंतः प्रदूषण
 होगा वही श्रेय
 और वही प्रेय
 जो है अवश्य करणीय
 प्रातः स्मरणीय
 नित्य अनुचिन्तनीय ।
 जैनधर्म के साधना-सूत्र
 कैसा हो अत्र अमुत्र
 मानव का चिरन्तन प्रश्न
 पढ़ें प्रस्तुत सृजन
 बदलेगा चिन्तन
 बदलेगी दृष्टि
 अभिनव सृष्टि
 उपयोगितावाद का दर्शन
 महाप्रज्ञ की प्रज्ञा का निदर्शन
 बने जीवन-दर्शन ।

मुनि धनंजयकुमार

अध्यात्म-साधना-केन्द्र
 छतरपुर रोड, मेहरोली
 नई दिल्ली ११० ०३०
 २६ जनवरी १९९५

अनुक्रम

मोक्ष-मार्ग

सफल जीवन के सूत्र	३
प्रयत्न का विवेक	१४
आर्यकर्म	२६
परमार्थ	३७
हितोपदेश	४८

मंगलमंत्र

उपासना का महत्व	५९
मंगलसूत्र	६५
णमो अरहंताणं	७३
णमो सिद्धाणं	८१
णमो आयरियाणं	९०
णमो उवज्जायाण	९६
णमो लोए सव्व साहूणं	१०४
एसो पंच णमोक्करो	११०
चत्तारि मंगलम्	११४
चत्तारि सरणं पवज्जामि	१२२

आवश्यक

सामायिक	१३१
चतुर्विंशति स्तव (१)	१३६
चतुर्विंशति स्तव (२)	१४९
वंदना	१५९

प्रतिक्रमण	१६५
कायोत्सर्ग	१७१
प्रत्याख्यान	१७८

नव तत्व

वह ज्ञाता होना चाहता है	१८५
यह दुःख कहां से आ रहा है ?	१९४
स्वतंत्र भी बंधा हुआ है	१९८
बोया बीज बबूल का, आम कहां से होय ?	२०५
क्या दरवाजा बंद है ?	२१२
मनोवृत्ति को बदला जा सकता है	२१९
आत्मा और परमात्मा	२२६

जैन धर्म के साधना सूत्र

मोक्ष मार्ग

सफल जीवन के सूत्र

आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थाधिगम सूत्र लिखा। उसका नाम है मोक्ष शास्त्र। उस ग्रंथ की पृष्ठभूमि में आचार्य उमास्वाति ने कुछ श्लोक लिखे। वे विचार-शुद्धि की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उसका पहला श्लोक है—

सम्यक्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं, विरतिमेव चाप्नोति ।
दुःखनिमित्तमपीदं, तेन सुलब्धं भवति जन्म ॥

जो व्यक्ति सम्यक् दर्शन से विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान के पश्चात् विरति को प्राप्त करता है, उसका यह जन्म, जो दुःख का निमित्त है, सफल हो जाता है।

सफल जन्म की कसौटी

इस श्लोक का आशय बहुत गंभीर है। जन्म प्रत्येक प्राणी का होता है। यह संसारचक्र है। इसमें रहने वाला कोई भी प्राणी जन्म से विरत नहीं रहता। जन्म और मरण अनवरत चलता है। जन्म होना एक बात है और जन्म सफल होना बिल्कुल दूसरी बात है। जन्म नारक का भी होता है, देव का भी होता है, तिर्यच और मनुष्य का भी होता है। इन चारों गतियों में परिभ्रमण करने वाले प्रत्येक प्राणी का जन्म होता है। किन्तु जन्म का सफल होना बिल्कुल अलग घटना है। सफलता की अपनी-अपनी कसौटियां होती हैं। यदि हम मोक्ष मार्ग या अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो सफल जन्म उसका होता है, जिसे सम्यग् दर्शन उपलब्ध होता है। जिसका दृष्टिकोण सम्यक् हो गया, उसका जन्म सफल हो गया। वह नहीं होता है तो जन्म सफल नहीं माना जाता है।

क्या जन्म दुःख का निमित्त है ?

प्रश्न है— क्या जन्म दुःख का निमित्त बनता है ? जन्म दुःख का निमित्त कैसे बनेगा ? मरण दुःख का निमित्त हो सकता है, किन्तु जन्म दुःख का निमित्त कैसे हो सकता है ? वस्तुतः जन्म भी दुःख का निमित्त बनता है । जन्म के साथ शरीर का निर्माण होता है । शरीर दुःखों का घर है । रोग कहां होता है ? वह शरीर में होता है । बुढ़ापा आता है इसी शरीर में । शरीर नहीं है तो कोई उपद्रव नहीं होता । शरीर के साथ उपद्रव रहता है । शरीर को डर रहता है कि कहीं जुकाम न हो जाए, बुखार न हो जाए । गर्मी आती है तो लू लगने का डर रहता है । यह डर इसलिए है कि शरीर में कोई कष्ट न पैदा हो जाए । शरीर में हेतुजनित बीमारियां पैदा होती हैं । इसीलिए आदमी हेतुजनित कष्टों और कठिनाइयों से बचाव की कोशिश करता है । सर्दी में भीतर रहता है, हीटर लगा लेता है । गर्मी आती है तो कूलर चला लेता है, मकान को एयरकंडीशन बना लेता है ताकि शरीर को कष्ट न हो । शरीर में नाना प्रकार के उपद्रव होते रहते हैं । वे शरीर को सताते हैं, ताप देते हैं । प्रिय और अप्रिय भाव भी शरीर को छूते हैं । एक बहुत सुंदर वचन है—

न हि अशरीरं प्रतपन्त्युपद्रवाः ।

नाशरीरं प्रियाप्रिये स्मृतः ॥

शरीर को प्रिय स्पर्श होता है तो बहुत ठण्डा लगता है, अच्छा लगता है । अप्रिय होता है तो बहुत खराब लगता है । ये प्रिय और अप्रिय शरीर के साथ जुड़े हुए हैं । शरीर के साथ हमारी इन्द्रियां भी जुड़ी हुई हैं, मन भी जुड़ा हुआ है । शरीर, इन्द्रिय और मन—इन्हें कभी अलग नहीं किया जा सकता । शरीर और मन को दुःख होता है क्योंकि जन्म हुआ है । जन्म से दुःख जुड़ा हुआ है । इसलिए ठीक कहा गया— यह जन्म दुःख-निमित्त है । प्रश्न यह है कि जो दुःख का निमित्त है, उसे सफल कैसे किया जाए ? वह सार्थक कैसे बने ? वह सुख का हेतु कैसे बने ?

मनुष्य की विशिष्टता

हम चार गतियों पर विचार करें। नरक गति का शरीर अधिकांश दुःख का हेतु है। नारक अधिकांश समय दुःख में रहता है। उसके दुःख वेदनीय का उदय होता रहता है। देव का शरीर अधिकांश सुख में रहता है। वह कभी-कभी दुःख वेदनीय का अनुभव करता है। तिर्यच का शरीर है, उसका भी अधिकांश समय दुःख में ही बीतता है। इन तीनों गतियों में जो प्राणी हैं, उनके मन में यह विचार पैदा ही नहीं होता है कि मुझे अपने जन्म को सफल बनाना है, दुःख रो मुक्त करना है। कारण बहुत स्पष्ट है। नरक योनि में इतना ज्यादा मानसिक तनाव रहता है, कष्ट रहता है कि उसे सोचने का अवसर ही नहीं मिलता। निरंतर प्रताड़ना, वेदना और संवेदना का जीवन जीता है। वह उस कष्ट से इतना अभिभूत हो जाता है कि जन्म को सफल करने की बात सोच ही नहीं पाता। देवता का शरीर सुख में तो रहता है, किन्तु सार्थक नहीं बनता। उसमें भोग-विलास का तनाव निरंतर रहता है। उसे कभी यह सोचने का अवकाश ही नहीं मिलता कि जन्म को सफल बनाएं, सार्थक करें। भौतिकता का ऐसा वातावरण रहता है कि उससे परे जाने का चिंतन ही प्रज्वलित नहीं होता। जो तिर्यच हैं, उनमें विवेक नहीं होता, चिंतन का विकास नहीं होता। वे तिर्यच पंचेन्द्रिय भी होते हैं, फिर भी चिंतन विकसित नहीं होता। अपवाद की बात छोड़ दें। कोई नारक भी ऐसा हो सकता है, जिसके मन में जागृति आ जाए। कोई तिर्यच भी ऐसा हो सकता है, जिसमें यह चिंतन जाग जाए। पर सामान्यतः उनमें यह विकास नहीं होता। केवल मनुष्य ही ऐसा है, जिसमें चिंतन की क्षमता है जिसका नाड़ी-तंत्र बहुत विकसित है। अन्य किसी भी प्राणी का नाड़ीयंत्र इतना विकसित नहीं होता। मनुष्य का मस्तिष्क भी बहुत विकसित है, स्पाइनल कोड (मेरुदण्ड) भी बहुत विकसित है। इतना विकास किसी अन्य प्राणी में नहीं है। मनुष्य में सोचने-विचारने की क्षमता है। उसमें यह चिंतन पैदा होता है कि मैं अपने जन्म को सफल करूं, दुःख-मुक्त करूं। वह इसके लिए मार्ग भी चुनता है। कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं, जो एक आग्रह के साथ जीवन जीते हैं। उनमें चिंतन का विकास नहीं होता।

आग्रह का निदर्शन

एक सूफी संत आतिथ्य में बहुत कुशल था। कोई भी अतिथि आता, उसकी वह पूरी सेवा करता। पहले उसे भोजन कराता, बाद में स्वयं करता। एक सांझ संत ने देखा— एक बूढ़ा आदमी एक लाटी के सहारे चला आ रहा है। संत को प्रसन्नता हुई। सोचा— आज आतिथ्य का अच्छा अवसर मिलेगा। बड़े सौभाग्य की बात है। संत सामने गया। उसे सहारा देकर अपने आवास तक लाया। उसके हाथ-पैर धोये, भोजन परोसा। वह वृद्ध आदमी भोजन के लिए बैठ गया, खाने लगा और खाता ही चला गया। संत ने कहा— ‘अरे कैसे आदमी हो तुम ? खुदा की इबादत भी नहीं की, परमात्मा का नाम नहीं लिया और सीधे खाने बैठ गए।’ वृद्ध ने कहा— ‘मैं अग्नि के सिवाय किसी अन्य को नहीं मानता। मेरे लिए अग्नि की पूजा ही सब कुछ है ! इसलिए तुम यह आशा मत करो।’

भोजन से जुड़ा विवेक

अपना-अपना एक अवधारणात्मक आग्रह हो जाता है। खाने से पहले परमात्मा का नाम लें या न लें, पर खाने में भी इतनी आकुलता और लोलुपता तो प्रकट न हो। खाने के पीछे आशय की शुद्धि होनी चाहिए। एक परमार्थ की दृष्टि होनी चाहिए कि मैं जो खा रहा हूँ, वह केवल शरीर को संबल देने की दृष्टि से खा रहा हूँ। यह दृष्टिकोण है अनासक्ति का। खाना केवल उपयोगिता मात्र है, इससे ज्यादा और कुछ नहीं। शरीर की आवश्यकता है, इसलिए खा रहा हूँ। खाने के साथ दूसरा दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि मैं जो खा रहा हूँ, उसका कहीं दुरुपयोग न हो। मैं अनावश्यक न खाऊँ। क्योंकि मैं जो खाना खा रहा हूँ, न जाने कितने लोगों का श्रम जुड़ा हुआ है। व्यक्ति यह चिन्तन करे कि अगर मैं अनावश्यक खाता हूँ या अधिक खाता हूँ तो कितने लोगों के श्रम की अवज्ञा करता हूँ। खाना कहां से आया ? यह सीधा आकाश से तो नहीं उतरा। किसी ने भूमि को साफ किया, उसे उर्वर बनाया, हल से जोता, बीज बोया, सिंचाई की, रखवाली की, पकी फसल की कटाई की, काटने में कितने मजदूरों का श्रम लगा। फिर उसमें से अनाज

निकाला, उसे बेचा गया। गेहूं बीन कर साफ किया। फिर पीसा गया, तब कहीं रोटी के रूप में सामने आया है। एक रोटी में सैकड़ों-सैकड़ों लोगों का श्रम, उनके पसीने की बूंदें लगी हैं। इसलिए अन्न का दुरुपयोग न करें, उसकी अंजना न करें। यह सारा भोजन के साथ जुड़ा विवेक है।

विवेक प्रवृत्ति का

प्रवृत्ति के साथ विवेक का जागना बहुत आवश्यक है। हमारी वह प्रवृत्ति लाभदायक नहीं होती, जिसके साथ विवेक नहीं होता। इसलिए प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ परमार्थ की दृष्टि का जागना बहुत आवश्यक है। परमार्थ की दृष्टि जागने पर प्रवृत्ति का परिष्कार हो जाता है। अन्यथा वह प्रवृत्ति धुआं पैदा कर देती है। गीता में ठीक लिखा गया है— 'सर्वारंभाहिदोषेन धूमेनाग्निरिवावृताः' जितनी प्रवृत्तियां हैं, वे सब दोषयुक्त हैं। कोई भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं है, जिसके साथ दोष न हो। जैसे आग के साथ धुआं निकलता है, वैसे ही प्रवृत्ति के साथ दोष आता है। यदि परमार्थ की दृष्टि जुड़ेगी तो कर्म अनावश्यक नहीं होगा। भगवान महावीर ने कर्म का निषेध नहीं किया। उनका निषेध अनावश्यकता से शुरू होता है— अनर्थ हिंसा मत करो। महावीर ने यह नहीं कहा कि कृषि मत करो। यह कैसे कहा जा सकता है? इसके बिना जीवन ही नहीं चलता। कोई भी विचारशील व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि तुम रोटी मत पकाओ, खेती मत करो, रोटी मत खाओ। लेकिन यह कहेगा— अप्रयोजन हिंसा मत करो। अनावश्यक हिंसा का वर्जन प्रवृत्ति को सुधारने का एक महत्वपूर्ण सूत्र बन गया।

एक विदेशी लेखक पोलारविश ने लिखा— 'मैंने अहिंसा के मर्म को समझा है, गांधीजी के सूत्र को पढ़ा है और मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि जीवन में अल्प हिंसा होनी चाहिए।' इसे पढ़कर हमने सुझाव दिया कि आपका सूत्र हमें पसंद नहीं आया। जीवन में अल्प हिंसा होनी चाहिए, यह अहिंसा की वाणी नहीं हो सकती। अहिंसा की भाषा हो सकती है कि जीवन में हिंसा का अल्पीकरण होना चाहिए, हिंसा की कमी होनी चाहिए। यह अहिंसा का प्रतिनिधित्व करने वाला सूत्र बनेगा। प्रवृत्ति को निर्दोष बनाने

के लिए परमार्थ दृष्टि, अहिंसा की दृष्टि उसके साथ जुड़े, यह बहुत आवश्यक है ।

ज्ञान, दर्शन और विरति

प्रश्न है— यह कैसे जुड़े ? इसके लिए तीन मार्ग बतलाए गए— सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और विरति । ज्ञान बीच में रहता है । एक ओर है सम्यक् दर्शन और दूसरी ओर है विरति, बीच में है सम्यक् ज्ञान । जहां ये दो तटबंध नहीं हैं, वहां ज्ञान अज्ञान से अधिक खतरनाक बन जाता है । शायद अज्ञानी लोगों ने जितने अपराध नहीं किये हैं, समाज को जितना आतंकित नहीं किया है, उतना ज्ञानी लोगों ने किया है । ज्ञानी का तात्पर्य यहां उन लोगों से है, जिनके साथ ज्ञान के ये दो तटबंध नहीं हैं । सम्यक् दर्शन और विरति से विहीन ज्ञान ने दुनिया में बहुत आतंक बढ़ाया है । सम्यक् दर्शन से शुद्ध ज्ञान की परिणति है विरति । हमारा दृष्टिकोण बिल्कुल साफ बन जाए । यह आशय की शुद्धि है । जो हमारी अन्दर की चेतना है, वही बाहर की चेतना है । एक भीतर की चेतना है, जिसका नाम है आशय । आशय शब्द के अनेक प्रयोग हैं । कर्माशय, गर्माशय, पक्वाशय— इन सबके साथ आशय शब्द जुड़ा है । भीतर के लिए आशय का प्रयोग होता है । आशय हमारे भीतर की चेतना है । उसकी शुद्धि हुए बिना ज्ञान भी पवित्र नहीं बनता । जब सम्यक् दर्शन के द्वारा आशय की शुद्धि हो जाती है, तब ज्ञान सही बनता है । उससे पहले ज्ञान सम्यक् नहीं बनता ।

विशुद्ध ज्ञान का हेतु

सबसे पहले आशय की शुद्धि का होना आवश्यक है । उसकी शुद्धि के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते । आशय-शुद्धि में बाधा डालने वाला तत्त्व है कषाय । क्रोध, मान, माया, लोभ— ये आशय को शुद्ध नहीं होने देते । आशय शुद्ध नहीं होता है तो हमारा सारा चिंतन भटकाने वाला होता है, नाना प्रकार की उलझनें पैदा करने वाला होता है । हमारा ज्ञान विशुद्ध तब होता है, जब आशय की शुद्धि होती है । आशय की शुद्धि हुई, कषाय

मन्द बन गया । क्रोध, अहंकार, माया, प्रवंचना और लोभ की उपशान्त अवस्था में जो ज्ञान होता है, वह निर्मल ज्ञान होता है । क्योंकि उस पर किसी का प्रभाव नहीं है । एक व्यक्ति खराब आदमी के प्रभाव में आता है, शराब पीने लग जाता है । वह शराब नहीं पीता था, पीना चाहता भी नहीं था, किन्तु दूसरे के प्रभाव में आया और शराब पीने लगा । ऐसा क्यों होता है ?

प्रभावित चेतना : स्वतंत्र चेतना

हमारी चेतना की दो अवस्थाएं होती हैं— प्रभावित और अप्रभावित । हम स्वतंत्रता की बहुत बात करते हैं, स्वतंत्र रहना चाहते हैं, पर पहले यह सोच लेना चाहिए कि चेतना किसी से प्रभावित है या नहीं । अगर दूसरे से प्रभावित है तो स्वतंत्रता की बात नहीं सोचनी चाहिए । प्रभावित चेतना और स्वतंत्र चेतना में कोई संबंध नहीं है । वह तो बिल्कुल परतंत्र होगी । माता-पिता से परतंत्र नहीं है तो दूसरे से परतंत्र बन जाती है । बहुत सारे लड़के कालेज में, विश्वविद्यालय में पढ़ते हैं, वे किसी मित्र से बंध जाते हैं, किसी कन्या से बंध जाते हैं और फिर माता-पिता की बात नहीं मानते । माता-पिता कहते हैं— तुम हमारी बात सुनो । वह कहता है— मैं अपने स्वतंत्र चिंतन से काम लूंगा, किसी दूसरे की बात नहीं मानूंगा । क्या उसकी चेतना स्वतंत्र है ? पहले वह माता-पिता से प्रभावित था, अब दूसरे से प्रभावित हो गया । जहां प्रभाव है, वहां स्वतंत्रता की चेतना नहीं हो सकती । चेतना की स्वतंत्रता वहीं होगी, जहां वह प्रभावित नहीं, अप्रभावित होगा । जो व्यक्ति किसी विचार, चिंतन या भावना से भावित होता है, वह उससे प्रभावित हो जाता है, सम्मोहित हो जाता है । एक का सम्मोहन टूटा और दूसरे का सम्मोहन शुरू हो गया । सम्मोहन सम्मोहन ही है । वहां स्वतंत्रता कहां ? स्वतंत्र वह होता है, जो सम्मोहित नहीं होता । उसकी चेतना सर्वथा असम्मोहित होती है ।

मंत्र विद्या का प्रभाव

तुगलकशाह ने जिनदत्तसूरि से कहा— 'महाराज ! आप मंत्रसिद्ध हैं, विद्यासिद्ध हैं। यह बरगद का पेड़ बहुत अच्छा है। क्या आप ऐसा कर सकते हैं कि मैं जहां जाऊं, यह पेड़ मेरे साथ-साथ चले, जिससे कि मैं इसकी छाया में रहूँ।' आचार्य ने कहा— 'यह हो सकता है।' बादशाह ने यात्रा शुरू की। साथ में बरगद भी चलने लगा। यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि क्या ऐसा संभव है ? किन्तु मंत्रविद्या के सामने असंभव नहीं है। वह वृक्ष बादशाह के साथ काफी दूर तक गया। बादशाह ने कहा— 'महाराज ! अब इसे आप मूल स्थान पर पहुंचा दें।' आचार्य ने वापस प्रयोग किया और वह वृक्ष अपने मूल स्थान पर जाकर पुनः आरोपित हो गया। क्या अब वृक्ष चलने में स्वतंत्र है ? कोई भी वृक्ष चलता नहीं है। अभी तक तो देखा नहीं गया। ट्रेन में सफर करते समय भ्रम-सा हो सकता है कि हमारे साथ, ट्रेन के साथ पेड़ भी दौड़े जा रहे हैं। किन्तु यह आभास, विपर्यय या भ्रम मात्र है। वास्तविकता यह है कि वृक्ष कभी चलता नहीं है। आचार्य की मंत्रविद्या से वृक्ष प्रभावित हो गया और चलने लग गया।

स्वतंत्र है वीतराग

वस्तुतः स्वतंत्र चेतना वीतराग की होती है। अवीतराग की चेतना स्वतंत्र बने, यह बहुत कठिन बात है। जब तक कषाय का उदय है, कषाय का विपाक है, तब तक स्वतंत्रता की बात सापेक्ष है। व्यक्ति एक अपेक्षा से यह कह सकता है— मैं स्वतंत्र चिंतन करता हूँ, किन्तु वास्तव में वह बंधा हुआ है। कोई व्यक्ति पेड़ से बंधा हुआ है, कोई कार से बंध हुआ है। कोई परिस्थिति से बंधा हुआ है, कोई किसी व्यक्ति से बंधा हुआ है तो कोई धन से बंधा हुआ है। चिंतन के पीछे ये सारे समवाय अपना काम करते हैं, इसलिए स्वतंत्रता की बात वहां नहीं हो सकती। जब सम्यक् दर्शन आता है, तब स्वतंत्रता की पहली किरण फूटती है। कषाय को मंद किया और दृष्टिकोण परिष्कृत हुआ, स्वतंत्रता प्रस्फुटित हो गई। इसलिए जन्म को सफल करने का पहला सूत्र बनता है सम्यक् दर्शन। जीवन में प्रकाश की रश्मि प्रस्फुटित

होती है, यथार्थ को समझने का मौका मिलता है, चेतना को प्रभावित करने वाले तत्त्व उपशान्त हो जाते हैं, आशय की शुद्धि संभव बनती है, चेतना अप्रभावित होने लग जाती है, हमारा ज्ञान भी अप्रभावित हो जाता है ।

मैं बहुत बार सोचता हूँ— दर्शन और ज्ञान को अलग क्यों करें ? यह बात इस संदर्भ में स्पष्ट हो जाती है । जो तीव्र कषाय से प्रभावित होता है, वह है मिथ्या दर्शन । उस अवस्था में जो ज्ञान होगा, वह सम्यक् नहीं हो सकता । जब कषाय मंद और उपशान्त होगा तब उस अवस्था में ज्ञान कषाय से अप्रभावित बन जायेगा इसलिए ज्ञान भी सम्यक् बन जायेगा ।

विरति का तात्पर्य

जीवन की सफलता का एक सूत्र है— विरति । विरति की परिभाषा की गई— 'ज्ञात्वा अभिसमेत्य अकरणं विरतिः । विरति का तात्पर्य है जानकर, अभिसमेत्य— दिवेक और निर्णय कर किसी कार्य को न करना । केवल न करना विरति नहीं है । व्यक्ति कमरे में बैठा है । किसी ने दरवाजा बंद कर दिया । भूख लगी हुई थी, किन्तु रोटी नहीं मिली । रोटी बनाने वाला या परोसने वाला नहीं था, उसे भूखा रहना पड़ा । यह विरति नहीं, विवशता है । विरति स्ववशता है । दरवाजा खुला है, रोटी है । व्यक्ति सोचता है— आज मुझे उपवास करना चाहिए । उसने भोजन का परित्याग कर दिया । इसका नाम है विरति । ज्ञात्वा और अभिसमेत्य— ये दोनों शर्तें पूरी होनी चाहिए । सम्यक् दर्शन भी होना चाहिए और सम्यक् ज्ञान भी होना चाहिए । जो व्यक्ति कषाय से बहुत ज्यादा प्रभावित है, वह खाना छोड़ने की बात नहीं सोचेगा । व्यक्ति कभी-कभी क्रोध में आकर खाना छोड़ देता है । जो स्वयं में ताप है, उसने एक दूसरे ताप को पैदा कर लिया । आखिर ताप ही रहा । वास्तव में वही व्यक्ति विरति कर सकता है, जिसका कषाय उपशान्त है और ज्ञान उस उपशान्ति के साथ हो रहा है । ऐसा व्यक्ति सोचता है अमुक काम नहीं करूंगा, अमुक चीज नहीं खाऊंगा, अमुक प्रवृत्ति नहीं करूंगा । इसका नाम है विरति, चारित्र, आचरण । सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और विरति अथवा सम्यक् चारित्र— ये जिसको उपलब्ध हैं, उसका जीवन सफल है ।

दुःखबहुल जीवन

वास्तव में यह जन्म बड़ा दुःख देने वाला है। एक व्यक्ति को एक जन्म में कितनी बार दुःख होता है। एक जन्म में नहीं, एक वर्ष में भी नहीं, एक दिन में ही व्यक्ति कभी-कभी अनेक बार शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव करता है। ऐसे दुःख-बहुल जीवन में अगर हम सफलता का सूत्र न खोजें या सफलता की बात न करें तो फिर मनुष्य और पशु में अन्तर क्या रहेगा ? इस दुःख-बहुल जीवन में हम अच्छा जीवन कैसे जी सकते हैं ? सफल जीवन कैसे जी सकते हैं ? सुख का अनुभव कैसे कर सकते हैं ? हमारे जीवन की सार्थकता क्या है ? इस खोज में आदमी चलता है, तब उसे सत्य का अनुभव होता है ! उसके सामने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार— ये तीन तत्त्व आते हैं। इनका मूल तात्पर्य यही है कि कषाय की मंदता सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की चेतना है। और अधिक कषाय जब उपशान्त होता है, तब विरति की चेतना आती है। जिस व्यक्ति ने इस चेतना का उपभोग किया है, उसके दुःख कम हो जाते हैं। मिथ्या दृष्टिकोण का जीवन जीने वाला व्यक्ति दिन में यदि सौ बार दुःख का अनुभव करता है तो सम्यक् दृष्टिकोण का जीवन जीने वाला व्यक्ति मुश्किल से एक-दो बार दुःख का अनुभव कर सकता है। तारतम्य की दृष्टि से देखें, तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो दुःख में बहुत अन्तर आ जाता है। दो व्यक्ति दर्द से ग्रस्त हैं। एक व्यक्ति 'पेन किलर' का उपयोग करता है और एक उसका उपयोग नहीं करता। दोनों के संवेदन में अंतर आ जायेगा। जिसने पेन-किलर का उपयोग किया, उसका कष्ट एक बार मिट गया। उसे ऐसा लगा, जैसे बीमारी चली गई। जो पेनकिलर उपयोग नहीं करता, उसे दुःख का संवेदन ज्यादा होता है।

ध्यान का प्रयोग क्यों ?

मैं मानता हूँ यह सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान सबसे बड़ा पेनकिलर है। दूसरे पेनकिलर तो शरीर-किलर हैं। शरीर को आराम देते हैं। बहुत बार लोगों ने पूछा— ध्यान के प्रयोग क्यों करें ? बस एक इलेक्ट्रॉड लगाया और वृत्ति समाप्त हो गई। क्रोध बहुत आता है। क्रोध के बिन्दु पर इलेक्ट्रॉड

लगाया, क्रोध शान्त हो गया। वैज्ञानिकों ने प्रयोग किया— जो भयंकर सांड होते हैं, जिनकी लड़ाइयां होती हैं, उनके सिर पर इलेक्ट्रॉड लगाया, एकदम शान्त हो गए। क्या विद्युतीय इलेक्ट्रॉड लगाना पर्याप्त नहीं है? ध्यान का इतने लम्बे समय तक उपयोग करने की जरूरत क्या है? यह प्रश्न करते समय यह नहीं सोचा गया कि इलेक्ट्रॉड से एक क्षण के लिए तो आवेग शान्त हो गया, पर आशय की शुद्धि उससे नहीं होती। इलेक्ट्रॉड लगाया तब तक ठीक है किन्तु इलेक्ट्रॉड हटाते ही वह उत्तेजना तैयार है। यह ध्यान का प्रयोग आशय की शुद्धि के लिए है। विद्युत्तंत्र जैसी क्षणिकता इसमें नहीं है। आशयशुद्धि निरंतर बनी रहे, इसके लिए आवश्यक है ध्यान। जब आशय की शुद्धि का प्रयोग होता है तो वास्तव में हमारे दुःख भी कम हो जाते हैं। दुःख का संवेदन मिथ्यादृष्टि ज्यादा करता है। दृष्टिकोण सम्यक् बना और दुःख का संवेदन स्वल्प बन गया।

दुःख कम करने के लिए, मनुष्य जीवन को सफल बनाने के लिए ये तीन सूत्र हमारे सामने हैं। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र—तीनों की एक त्रिपुटी है। असम्यक् से मुक्ति पाने के लिए सम्यक् का सहारा लेना भी आवश्यक है। पहले इतना तो करें कि बुरे आदमी से प्रभावित न बनें, अच्छे से प्रभावित हों। एक दिन व्यक्ति अप्रभावित भी बन सकता है। वह न तो अच्छे से प्रभावित होगा, न बुरे से प्रभावित होगा। पहले क्रम बनाएं, एक साथ छलांग न लगाएं। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अनुशीलन करें, सफलता का मार्ग स्पष्ट होता चला जायेगा।

प्रयत्न का विवेक

मनुष्य के पास शक्ति है इसलिए वह प्रयत्न करता है, चेष्टा करता है। शक्ति होना स्वभाव है और प्रयत्न करना पुरुषार्थ है। आदमी कुछ न कुछ करता है, निकम्मा नहीं रहता। एक छोटा बच्चा भी इतना प्रयत्न करता है कि एक क्षण भी वह स्थिर नहीं रहता। उसका कभी हाथ उठता है, कभी पैर उठता है और कभी शरीर का कोई अन्य अवयव उठता है। शायद एक क्षण भी स्थिर रहने की बात नहीं होती। क्योंकि उसके भीतर शक्ति का स्रोत है और वह शक्ति कुछ करने को प्रेरित करती रहती है।

कर्म और क्लेश की शृंखला

प्रश्न यह है कि प्रयत्न किस दिशा में होना चाहिए, क्यों होना चाहिए? हम प्रयत्न क्यों करें? चेष्टा क्यों करें? इनकी प्रवृत्ति क्यों करें? इस प्रश्न का बहुत सुंदर समाधान दिया गया है— जो जन्म है, वह कर्म और क्लेश की एक परंपरा है। कर्म से क्लेश और क्लेश से कर्म— यह एक शृंखला है, चक्र है। व्यक्ति कर्म करता है, कर्म का बन्ध होता है, उससे क्लेश पैदा होता है और उस क्लेश से फिर नए कर्म का बंध होता है। क्रोध का उदय होता है। उसका हेतु है क्रोध वेदनीय कर्म। क्रोध वेदनीय कर्म का विपाक हुआ, उससे मनुष्य में क्रोध अवतरित हो गया। क्रोध आया और फिर क्रोध वेदनीय कर्म का बन्ध हो गया। यह चक्र बराबर चलता रहता है। इस चक्र को तोड़ना बहुत कठिन है।

जन्म क्यों होता है ?

जन्म क्यों होता है ? मनुष्य बार-बार जन्म क्यों लेता है ? एक बार मृत्यु हो गई, बस, काम समाप्त हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा क्यों नहीं होता ? इसका कारण है यह कर्म और क्लेश का चक्र। कर्म, क्लेश और जन्म— इन तीनों में एक अनुबन्ध है, एक निरन्तरता है। तीनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। जब तक कर्म है, क्लेश है, तब तक जन्म है और जब तक जन्म है तब तक कर्म और क्लेश हैं। अगर जन्म नहीं होता तो नए सिरे से कर्म का बन्ध नहीं होता और क्लेश भी पैदा नहीं होता। लगता है— कर्म, क्लेश और जन्म इन तीनों ने आपस में कोई संधि कर ली है, समझौता कर लिया है। कर्म भी रहे, क्लेश भी रहे और जन्म भी रहे, ऐसा कोई समझौता हो गया है, तभी ये तीनों साथ-साथ चलते हैं।

क्लेश में आदमी को दुःख होता है। कर्म से भी दुःख होता है। कर्म भीतर रहता है, इसलिए पता नहीं चलता। क्रोध वेदनीय कर्म का पता नहीं चलता। जब क्रोध आता है तो आंखों में लाल डोरे पड़ जाते हैं। भृकुटि तन जाती है, होंठ कांपने लगते हैं, तब पता चलता है कि आदमी को क्रोध आया है। क्रोध का लक्षण हमारे सामने आ जाता है, क्रोध सामने नहीं आता। वह छिप कर अपना काम कर रहा है, भूमिगत होकर अपना काम कर रहा है। क्रोध का परिणाम होता है दुःख। क्लेश से कर्म का बन्ध और दुःख दोनों होते हैं।

कर्म का दबाव

व्यक्ति के मन में प्रश्न उठा— क्रोध से दुःख होता है, फिर मैं क्रोध क्यों करूं ? क्रोध नहीं करना चाहिए। किन्तु कर्म का इतना दबाव होता है कि व्यक्ति जानता हुआ भी उसको छोड़ नहीं पाता। लोग पानपराग खाते हैं, जर्दा खाते हैं, तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट पीते हैं। वे यह भी जानते हैं कि इनका परिणाम क्या है ? कैंसर, हृदय रोग आदि भयंकर बीमारियां इनका परिणाम हैं, फिर भी वे इन्हें छोड़ नहीं पाते। आज प्रातःकाल पूज्य गुरुदेव के पास एक परिवार आया। उस परिवार का एक भाई आकर ऐसे खड़ा

हुआ, जैसे कोई खंभा खड़ा हो। ऐसा लगता था कि जैसे उसमें न कोई चेतना है, न विवेक। बस अकड़ कर खड़ा हो गया। उससे पूछा गया— कहां से आए हो? वह बोलना चाहता था, पर बोल नहीं पा रहा था। परिवार वालों ने कहा— 'महाराज! यह इतना ज्यादा पानपराग खाता है कि दिन में दसों पैकेट समाप्त कर देता है। उसकी आकृति ही बता रही थी कि यह कोई नशेड़ी आदमी है। नशे के प्रयोग से उसकी विवेक चेतना जैसे लुप्त हो गई थी। उससे पूछा गया— 'क्या नशा छोड़ोगे?' वह बोला— 'नहीं, मैं नहीं छोड़ सकता।'

पूज्य गुरुदेव ने कहा— 'ऐसा लगता है, जैसे इसे जीने का मोह ही समाप्त हो गया है। जिसे जीने का मोह है, वह ऐसा नहीं कह सकता कि मैं नहीं छोड़ूंगा। परिवार के लोगों ने बताया कि इसकी इसी लत के कारण इसे बार-बार अस्पताल में भर्ती करना पड़ता है। सभी इससे परेशान हैं।

किससे मिला है जीवन ?

इसका कारण है— मोहनीय कर्म का प्रबल विपाक हो रहा है। हम कर्म के प्रति बहुत कम जागरूक हैं। हमने यह मान लिया कि जीवन सहज में मिल गया है और चल रहा है। किन्तु जीवन किससे मिला है, इस बात पर हमारा ध्यान नहीं जाता। हम इस सचाई की ओर ध्यान नहीं देते कि जीवन अच्छा मिला है तो कर्म के कारण मिला है। आगे भी जिस गति में मिलेगा, कर्म से मिलेगा, कर्म से प्राप्त होगा। जीवन का जो मूल चिंतन है, उसे हम भुला देते हैं। हमारा प्रयत्न इस दिशा में नहीं होता कि कर्म को मंद कैसे करना चाहिए। जाने-अनजाने जो कुछ भी होता है, उससे कर्म और अधिक तीव्र होता चला जाता है। कर्म गति को भी निम्न बना देता है।

प्रत्येक मनुष्य के मन में यह चिंतन होना चाहिए कि मैंने जो विकास किया है, जिस भूमिका का आरोहण कर लिया है, कम से कम उससे नीचे तो मैं न जाऊं। ऊपर जाऊं, यह अच्छी बात है, पर कम-से-कम उससे नीचे तो न जाऊं, अधोगति तो न हो। यह चिंतन हमारे प्रयत्न के लिए अपेक्षित है। हमारा प्रयत्न किस दिशा में होगा, इसका एक आधार बन जाता है कि

मुझे वर्तमान दशा से कम से कम नीचे तो नहीं जाना है । जो प्राप्त हो गया है, जिस विकास को प्राप्त कर लिया है, उससे नीचे अविकास की ओर नहीं जाना है । इतना-सा चिंतन होता है तो प्रयत्न की दिशा अपने आप बदल जाती है । चिंतन इस बिन्दु पर केन्द्रित हो जाएगा कि मुझे कर्म का अभाव हो, क्लेश का अभाव हो, दुःख का अभाव हो, वैसा प्रयत्न करना है ।

दिशा निर्धारित हो

गति का मूल्य है, किन्तु यदि दिशा सही नहीं है तो गति का श्रम होगा, गति का अर्थ कुछ नहीं होगा । गति से पहले दिशा का निर्धारण होना चाहिए कि किस दिशा में जाना है । जाना है पश्चिम में और चल पड़ा दक्षिण की ओर तो मंजिल नहीं मिलेगी, श्रम व्यर्थ जाएगा । दिशासूचक यंत्र का मूल्य इसीलिए है कि उसके आधार पर वायुयान भी चलते हैं, जलयान भी चलते हैं । हमारे जीवन के लिए यह एक दिशासूचक यंत्र है कि मुझे किस दिशा में जाना है । फिर उस दिशा में प्रयत्न होना चाहिए । जहां कर्म और क्लेश का क्षय हो, वह गंतव्य है । जब यह सत्य हाथ में आता है, तब कहीं कोई बाधा नहीं रहती, रुकावट नहीं होती । सत्य प्रकाश की भांति बिखरा हुआ रहता है । जहां देखो, सत्य दिखाई देता है और जहां सत्य है वहां कोई समस्या नहीं रहती । बहुत सारी समस्याएं असत्य और क्रोध का परिणाम होती हैं । इसीलिए वेदान्त के आचार्यों ने इसे माया कहा है । माया असत्य है, वास्तविक नहीं है । जैन दर्शन की भाषा होगी—आदमी पदार्थ में उलझ गया, मूल द्रव्य को नहीं पकड़ पा रहा है । मूल सत्य को पकड़ पाता तो उलझता नहीं ।

किस दिशा से ?

एक ज्योतिर्विद् राजसभा में आया । राजा ने उसका सम्मान किया और आसन दिया । राजा ने सोचा— यह वास्तव में ज्योतिर्विद् है या कोई पाखण्डी ? इसकी परीक्षा होनी चाहिए । ज्योतिष विद्या महत्वपूर्ण है, किन्तु उसकी छाया में पाखण्ड भी चलता है । धर्म के क्षेत्र में सचाई भी चलती है और धर्म का पाखण्ड भी चलता है । यही स्थिति आर्थिक क्षेत्र की है । जिसका मूल्य है,

वहां पाखण्ड को भी पनाह मिलती है, शरण मिलती है। राजा ने उस ज्योतिषी के ज्ञान को परखने का निश्चय किया। ज्योतिषी से कहा—‘महाराज ! मेरा एक प्रश्न है, आप उसका उत्तर दें।’

‘राजन् ! आपका क्या प्रश्न है ?’

‘मैं राजसभा के बाद अपने प्रासाद में जाऊंगा। रात को वहां रहूंगा। मेरे प्रासाद में पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण— इन चार दिशाओं में चार दरवाजे हैं। आप बताएं— मैं सुबह किस दरवाजे से बाहर निकलूंगा ?’

कभी-कभी ऐसे विचित्र प्रश्न भी होते हैं। महावीर के पास एक व्यक्ति आया, बोला—‘तुम सर्वज्ञ हो, सब कुछ जानते हो तो बताओ— मेरे हाथ में तिनका है, उसे मैं तोड़ूंगा या नहीं ?’ अब यदि कहा जाए कि तोड़ोगे तो नहीं तोड़ेंगे और कहा जाए कि नहीं तोड़ोगे तो तोड़ देगा। ये बड़ी उलझन भरी बातें हैं।

राजा ने उलझन भरा प्रश्न रख दिया। ज्योतिषी ने कहा— ‘राजन्, मैं आपके प्रश्न का उत्तर कागज में लिख देता हूँ। वह पत्र किसी तीसरे के पास रहेगा। न वह मेरे पास रहेगा और न आपके पास। वह पत्र मंत्री के पास रहेगा। जब आप प्रातः महल से निकल कर आएंगे तो उस पत्र को राजसभा में सबके सामने पढ़ें।’

ज्योतिषी के पास प्रकाश था। जहां प्रकाश होता है वहां सत्य सामने आ जाता है। सत्य का साक्षात्कार करने के बाद कोई समस्या रहती नहीं है। राजा प्रासाद में चला गया। उसके मन में विकल्प आया—ज्योतिषी ने कौन-सी दिशा का लिखा है ? पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण— इन चारों में से ही किसी दरवाजे का लिखा है। मुझे इन चारों दरवाजों से ही नहीं निकलना है। उसने महल के अधिकारियों को निर्देश दिया— महल का एक हिस्सा तोड़ दो। आदेश का पालन हुआ। एक ओर का हिस्सा तोड़ दिया गया। अब एक नया रास्ता बन गया। प्रातःकाल राजा उस टूटे हुए नये मार्ग से बाहर निकला। वहां से सीधे राजसभा में पहुंचा।

राजा ने पूछा— ‘ज्योतिर्विद्। बताओ, मैं कौन-से दरवाजे से बाहर निकला ?’

ज्योतिषी ने कहा— ‘राजन् ! मैं अपना उत्तर पहले ही लिखकर मंत्रीजी को दे चुका हूँ। आप उनसे लेकर पढ़ लें।’

मंत्री ने उस पत्र को पढ़ा । उसमें लिखा था— ‘महाराज ! आप छत को तोड़ कर बाहर निकलेंगे, किसी दरवाजे से बाहर नहीं निकलेंगे ।’

सत्य की एक किरण

सत्य को पकड़ने की अनेक विद्याएं हैं, अनेक उपाय हैं । आदमी सत्य को पकड़ता है । जिस व्यक्ति ने संकल्प कर लिया कि मुझे सत्य का अनुसंधान करना है, वह व्यक्ति सत्य को पा लेता है और पकड़ लेता है । सत्य को पकड़ने के अनेक मार्ग हैं । व्यक्ति सत्य को चाहे श्रुतज्ञान के द्वारा पकड़े, चाहे अवधिज्ञान के द्वारा पकड़े । श्रुतज्ञान का मूल्य भी कम नहीं है । श्रुतज्ञानी को भी केवली कहा गया है । केवली केवली है और श्रुतज्ञानी भी केवली है । श्रुतज्ञानी भी उन पर्यायों को जानता है, जिन्हें केवली जानता है । साक्षात् न जाने पर समस्त पर्यायों को जान सकता है । यह सत्य शोध की प्रवृत्ति जागनी चाहिए । सत्य क्या है ? सत्य की एक किरण है— कर्म का बंध कैसे न हो, सचाई दो पकड़ लेना । इस सचाई को पकड़ने का अर्थ है— जीवन की दिशा का बदल जाना । एक आधार मिला गया— ऐसा प्रयत्न हो, जिससे गाढ़ कर्म का बन्ध न हो ।

निर्जरा का हेतु

कर्म दो प्रकार के होते हैं— गाढ़ बन्धन वाले और शिथिल बन्धन वाले । भगवती सूत्र में दोनों का विशद वर्णन किया गया है । एक व्यक्ति थोड़ा-सा तप करता है और प्रकाण्ड निर्जरा हो जाती है, अतिशय निर्जरा हो जाती है । एक व्यक्ति बहुत तप करता है, फिर भी बहुत कम निर्जरा हो पाती है । इसका कारण क्या है ? क्या यह पक्षपात है ? क्या निर्जरा के क्षेत्र में भी भाई-भतीजावाद और पक्षपात चलता है ? दस दिन का उपवास किया, निर्जरा कम हुई और एक प्रहर का तप किया, निर्जरा प्रचुर हो गई । ऐसा क्यों ? इसका हेतु है जिस व्यक्ति का कर्म बन्धन प्रगाढ़ है, वह भारी तप करेगा, तब थोड़ी-सी निर्जरा होगी और जिस व्यक्ति के कर्म का बंधन स्वल्प है, वह थोड़ा-सा तप करेगा तो प्रचुर निर्जरा होगी । उदाहरण की भाषा में

समझें। एक कपड़ा थोड़ा-सा मैला है, उस कपड़े को धोएंगे तो थोड़ा-सा पानी और थोड़ा-सा साबुन लगा। कपड़ा साफ हो जायेगा। एक कपड़ा कीचड़ से भरा हुआ है। उसे धोने के लिए बहुत प्रयत्न करना होगा। उसमें बहुत पानी और बहुत साबुन लगेगा। साबुन से भी वह बहुत बार पूरी तरह साफ नहीं होता। एक एरण्ड का पौधा है, हवा का थोड़ा-सा झोंका आएगा और उखड़ जायेगा। एक बरगद का पेड़ है, वह बड़े से बड़े अंधड़ को भी झेल जायेगा। क्योंकि उसकी जड़ें जमीन में काफी नीचे गड़ी हुई हैं। एरण्ड की जड़ें बहुत शिथिल हैं, कमजोर हैं।

धार्मिक का पहला लक्षण

व्यक्ति के मन में निरन्तर यह चिन्तन रहे कि ऐसा कोई काम न करूं, जिससे कर्म का बन्धन गाढ हो जाए, इतना चिकना बन्धन हो जाये कि चिकनाहट उतरे ही नहीं। इसका अर्थ है—कर्म की एक सीमा हो गई, कर्मक्षय का एक रास्ता स्पष्ट हो गया। कर्मक्षय का पहला रास्ता है बन्धन गाढ न हो। बहुत कठिन है गाढ को उखाड़ना। यह गाढ बन्धन किससे होता है? तीव्र क्रोध है तो गाढ बन्धन हो जायेगा। मूर्च्छा बहुत तीव्र है तो गाढ बन्धन हो जायेगा। इसीलिए धार्मिक व्यक्ति के लिए सबसे पहला उपदेश होता है—तुम सबसे पहले ऐसा प्रयत्न करो, जिससे राग-द्वेष और कषाय प्रगाढ न हों, तीव्र न हों, तीव्रतर और तीव्रतम न बनें, किन्तु मंद हों, मंदतर और मंदतम बनें। धार्मिक बनने का पहला लक्षण है—कषाय को मंद करने का प्रयत्न। हमारा प्रयत्न इस दिशा में हो, जिससे कर्म मंद बनें। जब कर्म मंद होगा तो क्लेश भी मंद होने लग जायेगा। क्लेश को पोषण मिलता है कर्म से। जब क्लेश को पोषण मिलना बन्द हो जायेगा, तो क्लेश भी मंद हो जायेगा और दुःख भी मन्द हो जायेगा।

समस्या है संवेदन की तीव्रता

दुःख की अनुभूति और संवेदन समान नहीं होता। घटना एक होती है किन्तु संवेदन में अन्तर होता है। एक आदमी दुःख का तीव्रतर संवेदन

करता है और एक आदमी बहुत मंद करता है । एक आदमी सोचता है— जो हो गया, वह हो गया, बस बात को टाल देता है । किन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं कि थोड़ा-सा कुछ हो जाने पर ही उलझ जाते हैं । न सुख की रोटी खा पाते हैं और न चैन की नींद ले पाते हैं । सारे दिन तनाव में जीते हैं । एक व्यक्ति को पता चला— इन्कमटैक्स के अधिकारी आए हैं, तत्काल हार्टफेल हो गया । यह कहानी नहीं, घटना है । ऐसा क्यों हुआ ? अभी तो कुछ बात भी नहीं हुई, कुछ लिया दिया भी नहीं । संवेदन तीव्र हो गया और मृत्यु हो गई । भय से मृत्यु होती है और आघात से भी मृत्यु हो जाती है । कोई घटना नहीं घटी, अकस्मात् मृत्यु हो गई । इसका एक कारण है क्लेश की तीव्रता ।

कषाय को पतला करो

प्रश्न है—क्लेश मंद कैसे बने ? जैसे कर्म को मंद करें वैसे ही क्रोध को मंद करें । क्रोध कैसे मंद बने ? अहंकार मंद कैसे बने ? माया और लोभ मंद कैसे बने ? पतंजलि ने इनके लिए तीन-तीन प्रकार बतलाए हैं— मंद, मृदु और अधि— मंद अवस्था, मृदु अवस्था और अधि अवस्था । अधि है तो मंद और मृदु कैसे बने ? पतला कैसे बने ?

एक मुनि गुरु के पास आया और बोला— गुरुदेव ! उपवास का प्रत्याख्यान करवा दें । आचार्य ने प्रत्याख्यान कराया और साथ में कहा—‘पतली पाड़, पतली पाड़ । शिष्य ने सुन लिया । दूसरे दिन आया । सोचा— शरीर को पतला करना है तो एक उपवास से कैसे होगा ? आचार्य से निवेदन किया— प्रत्याख्यान करा दें । गुरु ने प्रत्याख्यान करा कर कह दिया— पतली पाड़ । यह सिलसिला चलता रहा । तीस दिन बीत गए । शरीर पतला हो गया । तीसवें दिन आया । गुरु ने फिर वही बात दोहराई— पतली पाड़ । मुनि आक्रोश में आ गया । बोला— ‘क्या पतली पाड़ूं ? यह कहते हुए अंगुली को खींचा । अंगुली हाथ में आ गई । गुरु बोले— मैंने इसीलिए तो कहा— पतली पाड़ । मैंने यह कब कहा कि शरीर को पतला कर दो । मैंने कहा था कषाय को पतला कर । तू तपस्या करता है, उपवास करता है, पर कषाय तेरा प्रबल है । इस कषाय को पतला करो ।’

प्रयत्न की सही दिशा

कोई भी वीतराग नहीं है। एक गृहस्थ की बात छोड़ दें, एक साधु भी वीतराग सहज में ही नहीं बनता है। वह उस दिशा में प्रयत्न करता है, जिससे कषाय प्रतनु बने। कर्म और कषाय दोनों को प्रतनु करना है। इसी चिंतन के आधार पर आचारशास्त्रीय अवधारणाएं बनती हैं। मनुष्य का आचार वैसा होना चाहिए, जिससे कर्म का बंध प्रगाढ़ न बने। हम जो भी आचरण करें, उसमें यह विवेक रखें कि बन्धन गाढ़ न हों, कषाय प्रगाढ़ न बने, तीव्र न बने। यह सचाई समझ में आ जाए तो हमारा प्रयत्न सही दिशा में होने लग जायेगा। जब तक यह विवेक जागृत नहीं होता है, तब तक प्रबलतम मूर्च्छा और आसक्ति का यह क्रम निरंतर चलता रहेगा। उसके आधार पर ही अनावश्यक हिंसा, अनावश्यक संग्रह की वृत्ति पनपती है। संग्रह और हिंसा पर कहीं विराम नहीं लगता, कहीं उनका अन्त नहीं होता। अनावश्यकताओं का परिसीमन होता है सचाइयों को जान लेने पर। व्यक्ति सोचता है मुझे कर्म का क्षय करना है, क्लेश का क्षय करना है, किन्तु वह कब होगा? पहले दिन क्षय नहीं होगा। पहली बार में क्षय नहीं होगा। पहली प्रक्रिया है कषाय को मंद करना, कमजोर बना देना। यह स्थिति समझ में आती है तो ध्यान का मर्म भी समझ में आता है।

ध्यान और तपस्या

कर्म को प्रतनु करने का शक्तिशाली माध्यम है ध्यान। तपस्या के अनेक प्रकार हैं, किन्तु सबसे शक्तिशाली माध्यम है ध्यान। मानक या मानदण्ड की भाषा में कहा जाता है कि ढाई मिनट का ध्यान और बेले की तपस्या यानी दो दिन का उपवास बराबर है। जो निर्जरा दो दिन के उपवास में होती है, वह निर्जरा ढाई मिनट के ध्यान में हो जाती है। इतना शक्तिशाली साधन है ध्यान। इससे भी आगे जब ध्यान की विशुद्ध श्रेणी बढ़ती है, शुक्ल ध्यान की स्थिति आती है, तो महान् निर्जरा घटित होती है। आचार्य ने प्रशमरति प्रकरण में लिखा है— 'एक मुनि शुक्लध्यान की उत्कृष्ट साधना में है। उस स्थिति में उसमें इतनी क्षमता है कि वह दुनिया के अनंत-अनंत जीवों के कर्म

अकेला क्षीण कर सकता है। ध्यान का इतना महत्व है। इस महत्व को आंकना चाहिए।

शक्तिशाली प्रयत्न

मानसिक, वाचिक और कायिक— इन सब प्रयत्नों में विशुद्धि का सबसे अधिक शक्तिशाली प्रयत्न है ध्यान। हम कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठते हैं, शरीर को शिथिल कर देते हैं। प्रश्न होता है— प्रयत्न कहां रहा ? एक ओर प्रयत्न की बात, दूसरी ओर प्रयत्न कहां ? कायोत्सर्ग में शरीर के प्रयत्न को समाप्त कर दिया। वाणी का नौन हो गया, प्रयत्न कहां रहा ? मन को एकाग्र कर लिया तो प्रयत्न कहां रहा ? एक ओर है सबसे शक्तिशाली प्रयत्न और दूसरी ओर है अप्रयत्न यागी प्रयत्न का अभाव। दोनों में विरोधाभास लगता है, पर विरोध नहीं है। मन, वाणी और शरीर— ये हमारे स्थूल शरीर के घटक हैं। इनके साथ आत्मा का प्रयत्न इतना तीव्र नहीं होता। जब ये तीनों निष्क्रिय होते हैं तब आत्मा का प्रयत्न तीव्र होता है, अनंत शक्ति तभी प्रकट होती है। शरीर में अनंत शक्ति कभी प्रकट नहीं होती है। वह तब प्रकट होती है जब मन, वाणी और शरीर— इनकी प्रवृत्ति का निरोध किया जाए। उस समय भीतर का भयंकर विस्फोट होता है और वह होता है आत्मा के प्रयत्न से। शरीर, मन और वाणी का प्रयत्न तीव्र होता है तब आत्मा का प्रयत्न शिथिल हो जाता है। जब इनका प्रयत्न मंद हो जाता है, तब आत्मा का प्रयत्न जागृत हो जाता है।

प्रवृत्ति : निवृत्ति

मनोविज्ञान की भाषा है— जब कांशियस माइंड सक्रिय रहता है तब अनकांशियस माइंड सोया रहता है और जब कांशियस माइंड निष्क्रिय बन जाता है, तब अनकांशियस माइंड सक्रिय बन जाता है। उस अवस्था में अनकांशियस मन में भरी हुई शक्तियां एक साथ जाग जाती हैं। ठीक यही स्थिति शरीर और आत्मा के प्रयत्न की है। शरीर, मन और वाणी का प्रयत्न है तब तक आत्मा का प्रयत्न प्रबल नहीं होता। जब ये तीनों शान्त होते हैं,

तब आत्मा का प्रयत्न प्रकट होता है। बहुत लोग कहते हैं— निवृत्तिवाद का अर्थ है निकम्मा हो जाओ, निठल्ला हो जाओ। वस्तुतः उन्होंने निवृत्ति का रहस्य ही नहीं समझा। जब बाहर की प्रवृत्तियाँ बन्द होती हैं, तब भीतर की प्रवृत्ति इतनी प्रबलतम होती है कि उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह प्रवृत्ति निवृत्ति सापेक्ष है। बाहर की प्रवृत्ति, भीतर की निवृत्ति। बाहर की निवृत्ति, अंतरात्मा की प्रवृत्ति। हमारी आत्मा की प्रवृत्ति ध्यान में होती है। ध्यान निठल्ला बैठना नहीं है। आत्मा की प्रवृत्ति करना है।

श्री जेठाभाई झवेरी ध्यान के अच्छे साधक थे। एक दिन मैंने उनसे पूछा— ‘आप बहुत पढ़ते हैं, पर प्रेक्षाध्यान का अभ्यास क्यों नहीं करते ? प्रेक्षाध्यान के शिविर में क्यों नहीं आते ?’ उन्होंने कहा—‘महाराज ! मैं पढ़ता हूँ, घण्टा भर लिखता हूँ तो कोई काम करता हूँ। घण्टा भर आंख मूंद कर बैठ जाऊंगा तो उससे क्या लाभ होगा ?’ मुझे आश्चर्य हुआ कि इतना विद्वान् आदमी, जो विज्ञान को जानता है, दर्शन को जानता है और वह ऐसी बात कहता है। न मेरी बात उनकी समझ में आई और न उनकी बात मेरी समझ में आई। एक बार उनके पुत्र अरुण ने शिविर में भाग लिया। उसके स्वभाव में आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। जेठाभाई को लगा कि वे भ्रान्ति में हैं। ध्यान तो बड़े काम की चीज है। वे शिविर में ही नहीं आए, प्रेक्षाध्यान के प्रशिक्षक और प्रवक्ता भी बन गए।

यही परमार्थ है

जब यह बात समझ में आती है कि ध्यान निर्जरा का इतना शक्तिशाली साधन है और वह निर्जरा अगले जीवन में काम नहीं आएगी, वर्तमान जीवन में बदलाव लाएगी, तब ध्यान का महत्व आंका जाता है। आचार्य ने बहुत मार्मिक दर्शन दिया— ‘ऐसा प्रयत्न करो, जिससे कर्म और क्लेश का क्षय हो, यही परमार्थ है।’

जन्मनि कर्मक्लेशैः अनुबद्धेस्मिन् तथा प्रयतितव्यं ।
कर्मक्लेशाभावो यथा भवत्येष परमार्थः ॥

क्लेश और कर्म को क्षय करने का एक शक्तिशाली साधन है ध्यान । हम इस सचाई को समझ कर ध्यान करें कि मैं क्यों कर रहा हूं, क्या कर रहा हूं । बाहर से निवृत्ति और भीतर से प्रवृत्ति— यही ध्यान है । कबीर ने कहा— 'बाहर से तो कछु य न दीखै, भीतर जल रही जोत ।' आचार्य भिक्षु ने कहा— 'तपसी रो शरीर लूखो हुवै ।' तपस्वी और ध्यानी का शरीर बाहर से रूखा-सूखा रहता है, पर भीतर में एक तेज झलकता है । हम भीतर प्रवृत्ति करना और भीतर के तेज को देखना सीखें, हमारे कर्म और क्लेश मंद होते चले जाएंगे और एक दिन आएगा— प्रयत्न का विवेक अप्रयत्न का स्रोत बन जायेगा ।

आर्य कर्म

उत्तराध्ययन सूत्र का प्रसंग है— चित्र और ब्रह्म— दोनों भाई मिले । ब्रह्म चक्रवर्ती राजा था और चित्र मुनि थे । ब्रह्म ने प्रयत्न किया, मुनि मेरे साथ आ जाए और राज्य का उपभोग करे । चित्र ने प्रयत्न किया— ब्रह्म मेरे साथ आ जाए और संयम का जीवन जीए । संयमशील बने । दोनों ओर काफी तर्क-वितर्क चले । आखिर दोनों में से कोई भी सफल नहीं बना । न ब्रह्मदत्त चित्र को अपनी ओर खींच सके और न चित्र ब्रह्मदत्त को अपनी ओर आकर्षित कर सके । कोई सफल नहीं हुआ । ब्रह्मदत्त ने साफ-साफ कहा— मुनिवर ! आप जो कहते हैं, वह सही है, किन्तु मैं राज्य को, भोगों को अभी नहीं छोड़ सकता ।

चित्र ने कहा— राजन्, तुम यदि भोगों को छोड़ने में असमर्थ हो तो कम से कम आर्य कर्म तो करना, अनार्य कर्म कभी मत करना ।

परमार्थ की दिशा

प्रश्न है— आर्यकर्म क्या है और अनार्यकर्म क्या है ? आचार्य उमास्वाति ने प्रयत्न की चर्चा करते हुए कर्म की काफी चर्चा की है । उन्होंने बताया— जिस कर्म से, जिस प्रवृत्ति से कर्मबंध और क्लेश— ये दोनों क्षीण हों, वैसा कर्म करना चाहिए । कर्म का निषेध प्रवृत्ति का निषेध नहीं है । वह प्रवृत्ति, जिसके सामने कर्मक्षय का लक्ष्य रहे, परमार्थ है । प्रश्न उठेगा— किसी व्यक्ति को यह परमार्थ न मिले, तब क्या करना चाहिए ? परमार्थ की दृष्टि जाग जाए, यह बहुत कठिन बात है । सब व्यक्तियों में यह संभव नहीं है किन्तु जब परमार्थ की दृष्टि नहीं जागती है, तब भी मनुष्य कर्म करता है । वह

कैसा कर्म करे ? आचार्य ने समाधान दिया— परमार्थ की दृष्टि न जागे तो कम से कम वैसा कर्म करो, जिसका अनुबंध कुशल हो । वह पापानुबंधी न हो, कुशलानुबंधी हो ।

परमार्थालाभे वा दोषेस्वारंभकस्वभावेषु ।
कुशलानुबंधमेव स्यादनवद्यं यथा कर्म ॥

एक कर्म ऐसा होता है, जिसका अनुबंध अकुशल है । उससे बुराई की शृंखला मजबूत होती जाती है, बुराई का अनुबंध दृढ हो जाता है, कहीं समाप्त नहीं होता । वह व्यक्ति परमार्थ की दिशा में गति करता है, जिसका अनुबंध कुशल है । जो कर्म व्यक्ति को भोग में नहीं डालता, त्याग और संयम की ओर ले जाता है, जन्म-मरण के आवर्त में फंसाता नहीं है, वह कुशलानुबंध कर्म होता है ।

हमारी दुनिया में नाना प्रकार के लोग हैं । सब एक चिंतन और एक विचार के नहीं हैं । आचार्य ने अपनी दृष्टि से उनका वर्गीकरण करते हुए उह प्रकार के मनुष्य बतलाए हैं—

- अधमतम
- अधम
- विमध्यम
- मध्यम
- उत्तम
- उत्तमोत्तम

कर्माहितमिह चामुत्र, चाधमतमो नरः समारभते ।
इहफलमेव त्वधर्मो विमध्यमस्तूभयफलार्थम् ॥
परलोकहितायैव प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा ।
मोक्षायैव तु घटते, विशिष्टमतिरुत्तम पुरुषः ॥

अधमतम

एक व्यक्ति ऐसा कर्म करता है, जिससे वर्तमान के जीवन में अहित

आर्य कर्म

२७

होता है और भविष्य के जीवन में भी अहित होता है। ऐसा कर्म करने वाला अधमतम होता है। क्या ऐसा कोई हो सकता है, जो वर्तमान जीवन को भी बिगाड़े? दुनिया विचित्र है। यहां सब प्रकार के लोग हैं। क्या इस दुनिया में आत्महत्या करने वालों की कमी है? आत्महत्या करने वाला वर्तमान का भी अहित करता है और आगामी जन्म का भी अहित करता है। वह इस प्रकार के आचरण, कर्म और प्रवृत्तियां करता है, जो दोनों जन्मों को बिगाड़ने वाली या दोनों जन्मों की दुश्मन होती हैं। ऐसा व्यक्ति अधमतम होता है, निकृष्टतम होता है। प्रति वर्ष हजारों-हजारों आत्महत्याएं एक देश में हो जाती हैं। आन् के जो विकसित राष्ट्र हैं, उनमें तलाक और आत्महत्या— ये दोनों आम बात हो चुकी हैं। विकसित राष्ट्रों की विकास सूची में ये दो बातें और जोड़ देनी चाहिए। पूछा जाए— विकसित राष्ट्र कौन? इसका एक उत्तर यह हो सकता है, जहां आत्महत्याएं और तलाक अधिकतम होते हों, वह विकसित राष्ट्र है। ऐसा हो रहा है। किन्तु क्यों हो रहा है? इसलिए कि आर्यकर्म को समझा नहीं गया, कुशलानुबंध कर्म को समझा नहीं गया। केवल अनार्यकर्म और अकुशलानुबंध या पापानुबंध के कर्म को ही समझा गया।

अधम

अधम व्यक्ति केवल वर्तमान जीवन की चिन्ता करता है। इस कोटि में उन लोगों को समाविष्ट किया जा सकता है, जो परलोक में विश्वास नहीं करते। ऐसे लोग इस भाषा में सोचते हैं— किसने देखा है परलोक? खाओ-पीओ, मौज करो। चार्वाक दर्शन को इसी रूप में प्रस्थापित किया गया। चार्वाक की ऐसी अवधारणा थी या नहीं, किन्तु उनके दर्शन को जिन लोगों ने प्रस्थापित किया, उन लोगों ने यह धारणा अवश्य फैला दी कि जब तक जीओ, मौज-मस्ती से जीओ, आनन्द से जीओ, न कहीं आना है, न कहीं जाना है। इसलिए वर्तमान जीवन जो मिला है, उसमें अधिकाधिक भोग कर लें, समस्त सुखों को अर्जित कर लें। आगे की चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं है। इस प्रकार का चिंतन करने वाले लोग अधम कोटि के मनुष्य कहलाते

हैं, क्योंकि उनका जीवन केवल वर्तमान जीवन तक सीमित हो जाता है । वे भविष्य को बिलकुल नकार देते हैं । इसका एक हेतु इन्द्रियों की चंचलता है, आसक्ति या लोलुपता है । इन्द्रियां तृप्त होना चाहती हैं, किन्तु तृप्त कभी नहीं होतीं । तृप्त होना इन्द्रिय का स्वभाव ही नहीं है । जैसे-जैसे तृप्ति का प्रयत्न होता है, वैसे-वैसे अतृप्ति और बढ़ती जाती है । तृप्ति की चाह बराबर बनी रहती है । उस अतृप्ति की चाह से ही कुछ इस प्रकार के सिद्धान्त बन जाते हैं, प्रवचनाएं खड़ी हो जाती हैं । जीवन में बहुत सारी प्रवचनाएं इस इन्द्रिय लोलुपता के कारण ही होती हैं ।

साक्षी परमात्मा की

एक व्यक्ति ने बिल्ली पाली । उस बिल्ली से उसे बहुत प्यार था । कुछ दिन तक तो बिल्ली ठीक रही । किन्तु आखिर आदत कहां जाएं ? जब भी मौका मिलता, दूध-दही चट कर जाती । घर वालों के लिए समस्या हो गई । दूध-दही मिलना मुश्किल हो गया । सोचा— क्या करें ? अत्यधिक लगाव के कारण उसे घर से निकाल भी नहीं सकते थे । एक दिन उनके नगर में साधु आए । सबने सोचा— भाग्य से संन्यासी पधारें हैं, चलो दर्शन करें, प्रवचन सुनें । संन्यासी ने अपने प्रवचन में कहा— ‘चोरी करना बहुत बड़ा पाप है । छल करना, लुक-छिप कर कुछ खा जाना, किसी की चीज उठा लेना अपराध है ।’

प्रवचन से सब बहुत प्रभावित हुए । बिल्ली ने भी सुना । उसका मन भी कुछ बदला । उसने भी संकल्प कर लिया— अब दूध-दही खाऊंगी तो छिप कर नहीं खाऊंगी, सबके सामने दूध की कटोरी साफ करूंगी । दूसरे दिन लोग किसी काम में लगे हुए थे । दूध सामने पड़ा था, किन्तु संकल्प था कि छिप कर नहीं, सबके सामने पीऊंगी । भूख से उसका बुरा हाल था । अब एक ओर इन्द्रिय लोलुपता का दबाव, दूसरी ओर कृत संकल्प का अवरोध । दोनों के बीच अन्तर्द्वन्द्व छिड़ गया । आखिर इन्द्रिय चेतना बलवान् हो गई । बिल्ली दूध के पास चली गई । दूध पीने की तैयारी की । मन में फिर विकल्प जगा— संकल्प को तोड़ूं या न तोड़ूं । इतने में एक उपाय सूझा ।

आकाश की ओर मुंह करके बोली— हे परमात्मा ! तुम सबको देख रहे हो और मैं तुम्हारी साक्षी से यह दूध पी रही हूँ ।

यह क्यों होता है ? जहां इन्द्रिय चेतना प्रबल बनती है, इन्द्रियों की लोलुपता बढ़ती है, वहां छलना, प्रवंचना, माया— ये सब बढ़ जाते हैं । बिल्ली में ही नहीं, आदमी में भी बढ़ जाते हैं, हर प्राणी में बढ़ जाते हैं । अधम पुरुष केवल वर्तमान जीवन तक अपनी चेतना को सीमित कर देता है । उसमें इन्द्रिय आसक्ति बढ़ जाती है । इन्द्रिय की आसक्ति को कम करने का सूत्र है— परलोक-दर्शन । भविष्य के जन्म का दर्शन स्पष्ट हो जाए तो इन्द्रिय की लोलुपता पर नियंत्रण होता है । सामने एक प्रश्न आता है— परलोक में क्या होगा ? दूसरे जन्म में क्या होगा ? अगला जन्म कैसा होगा ? किस गति का मिलेगा ? जहां यह सारा चिंतन ही नहीं है, वहां इन्द्रिय संयम की कोई आवश्यकता ही महसूस नहीं होती । उस पर कोई नियंत्रण नहीं होता । इन्द्रिय की प्रेरणा से होने वाला यह कर्म अधम कोटि का कर्म होता है ।

विमध्यम

विमध्यम व्यक्ति वह है, जो अहित नहीं करना चाहता । वह इहलोक का भी काम करना चाहता है और परलोक के लिए भी कुछ करना चाहता है । दोनों ओर से वह फल की आकांक्षा करता है, अहित की आशा नहीं करता । इहलोक में चाहता है कि मैं ऐसा व्यापार करूं, उद्योग करूं, जिससे मुझे लाभ मिले और जीवन सुखी बने । परलोक के लिए भी वह सोचता है कि मुझे ऐसा कुछ करना चाहिए । इतना दान कर दूं तो परलोक सुधर जाएगा । अमुक अनुष्ठान करूं तो परलोक सुधर जायेगा । दोनों लोकों की चिन्ता वह करता है । किन्तु उसके सम्यक् दर्शन नहीं है, इसलिए कुशलानुबंध नहीं करता । किसी ने कहा— बलि चढा दो, तुम्हें स्वर्ग मिल जाएगा, यज्ञ करा दो, स्वर्ग मिल जाएगा, तो हिंसा में भी प्रवृत्त हो जाएगा, अकुशल कार्य में भी प्रवृत्त हो जाएगा । कभी-कभी लोग ऐसे ही उद्देश्य के लिए मनुष्य की बलि भी चढा देते हैं । वह अकुशलानुबंध करता है किन्तु दोनों दृष्टियों से सोचता जरूर है । ऐसे व्यक्ति को विमध्यम कोटि का व्यक्ति माना गया है ।

मध्यम

मध्यम कोटि का व्यक्ति वह है, जो केवल परलोक की चिन्ता करता है। ऐसा व्यक्ति वर्तमान जीवन की उपेक्षा कर देता है। वह इस सचाई को भुला देता है कि वर्तमान जीवन को अच्छा बनाए बिना परलोक अच्छा कैसे होगा? परलोक का हित वर्तमान के हित से जुड़ा है। जहां अधम व्यक्ति केवल वर्तमान की चिन्ता करता है वहां मध्यम व्यक्ति केवल परलोक सुधारना चाहता है। परलोक सुधारने के लिए वह ऐसे कर्म कर लेता है, जिनका अनुबंध कुशल नहीं है। केवल वर्तमान की चिन्ता और केवल परलोक की चिन्ता—दोनों ही अधूरे हैं। मध्यम व्यक्ति का दृष्टिकोण इसीलिए समीचीन नहीं है कि वह वर्तमान की सर्वथा उपेक्षा कर देता है। परलोक-दर्शन भी आवश्यक है किन्तु उससे वर्तमान के हित का सूत्र निष्पन्न होना चाहिए।

उत्तम पुरुष

उत्तम पुरुष वह होता है, जो वर्तमान जीवन को भी हितकर बनाना चाहता है और भावी जीवन को भी हितकर बनाना चाहता है। वह चाहता है—दोनों जन्म सुधरें। दोनों जन्मों के साथ मित्रता सधे। बहुत कम लोग अपने वर्तमान जीवन के साथ मित्रता स्थापित करना जानते हैं। इस जन्म को, इस मानवीय जीवन को व्यक्ति स्वयं अपने लिए शत्रु बना लेता है। बहुत खाता है, बीमारी पैदा हो जाती है। क्या ऐसा करके वह वर्तमान जीवन को शत्रु नहीं बना रहा है? बहुत टी. वी. देखता है, आंखों की ज्योति कम हो जाती है, क्या इस तरह वह अपने जीवन को अपना शत्रु नहीं बना रहा है? अगर जीवन के साथ मैत्री होगी तो ऐसा कार्य वह कभी नहीं करेगा। जहां वह मैत्री करेगा, हित की चिन्ता भी करेगा। वह सोचेगा कि मेरा हित किस बात-में है। वह हित की चिन्ता के साथ चलेगा।

आर्य कर्म : अनार्य कर्म

जो वर्तमान जीवन को अहित में डाल देता है, वह कर्म अनार्य कर्म है। आर्य कर्म वह होता है, जो वर्तमान के हित की भी चिन्ता करता है,

वर्तमान के जीवन में भी संयम करता है और भावी जीवन की भी चिन्ता करता है। जो व्यक्ति संयम करना नहीं जानता, वह कभी भी जीवन को अच्छा नहीं रख सकता। जो व्यक्ति असंयम के साथ जीता है, वह जानबूझकर अनेक व्याधियों और आधियों को आमंत्रित कर लेता है। आज पूरे संसार में मानसिक और भावात्मक तनाव भयंकर बीमारी के रूप में फैला हुआ है। यह तनाव कोई ऊपर से बरसता नहीं है। हमारे स्वयं के बुलावे पर आया है। मनुष्य इसे बुलाता है, क्योंकि वह आर्यकर्म करना नहीं जानता।

शान्ति के नाम पर

एक विदेशी आदमी किसी कंपनी के मालिक के पास गया और बोला— 'मैं तुम्हारी कंपनी के अधिकारियों और कर्मचारियों को मेडिटेशन का प्रयोग कराऊंगा, जिससे उनको शान्ति मिले, तनाव कम हो और उनकी कार्यक्षमता बढ़ जाये।'

मालिक ने उसे प्रयोग के लिए नियुक्त कर दिया। उनमें एक व्यक्ति प्रेक्षाध्यान को जानता था। उसका नम्बर आया। उसने पूछा— 'आप क्या प्रयोग कराएंगे?'

'मैं तुम्हें एक मंत्र दूंगा, उसका तुम्हें जप करना है। पर एक शर्त है कि किसी को यह मंत्र बताना नहीं है। यहां तक कि तुम इसे अपनी पत्नी को भी नहीं बता सकोगे।'

उसने कहा— 'ठीक है आप दीजिए मंत्र।'

'सी० अम्मा, सी० अम्मा, सी० अम्मा— का जाप करो।'

'इसका अर्थ क्या है?'

'वह बाद में जानोगे, पहले यह करो, तुम्हें इससे बड़ी शान्ति मिलेगी।'

प्रेक्षासाधक ने संपूर्ण घटनाक्रम बताते हुए कहा— 'महाराज! आज इस प्रकार लोगों को मूर्ख बनाया जा रहा है, उन्हें ठगा जा रहा है, धोखा दिया जा रहा है। आदमी को शान्ति चाहिए। तनाव को कम करने के लिए लोग भारी से भारी धनराशि व्यय करने को तत्पर हैं। किन्तु इस प्रकार के पाखण्डों में उलझ कर आर्थिक हानि भी उठाते हैं और शान्ति से भी वंचित

रहते हैं । जीवन अधिक उलझन पूर्ण बन जाता है ।’

आदमी तनाव को मिटाना चाहता है, किन्तु तनाव आता कहां से है ? तनाव आता है असद् कार्यों से । जितनी-जितनी इन्द्रियों की लोलुपता बढ़ती है, उतना-उतना तनाव भी बढ़ता है । यदि इन्द्रिय चेतना का संयम हो जाए तो तनाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा ।

ऐसा क्यों होता है ?

उत्तम पुरुष आर्यकर्म करता है, निरवद्य और निर्दोष कर्म करता है । कषाय हमारे दोष हैं । शरीर के तीन दोष माने गए हैं— वात, पित्त और कफ । गीता अथवा वैदिक साहित्य में मन के तीन गुण या दोष माने गए हैं— सत्त्व, रजस् और तमस् । हम जैन दृष्टि से विचार करें तो दोष हैं कषाय— क्रोध, मान, माया और लोभ । इन दोषों का स्वभाव है आरम्भ में प्रवृत्त करना । बहुत लोग कहते हैं— मैं यह काम करना नहीं चाहता, पर पता नहीं कैसे हो जाता है । करना नहीं चाहता, पर हो जाता है, यह द्वन्द्व क्यों ? आदमी करना चाहे और हो जाए तो ठीक बात है । भोजन करना चाहा और भोजन हो गया, यह बात तो ठीक है, पर भोजन करना नहीं चाहता था, फिर भी भोजन कर लिया, यह विरोधाभास है । दूसरे की वस्तु को उठाना नहीं चाहता था, पर उठा लिया, यह क्यों होता है ? यह आरम्भ में प्रवृत्ति क्यों होती है ? हिंसा करना नहीं चाहता था, पर हो गई । झूठ बोलना, चोरी करना तो नहीं चाहता था, पर हो गई, ऐसा क्यों होता है ?

कार्य की कसौटी

कषाय आरम्भ में प्रवृत्ति कराते हैं, हिंसा, झूठ, चोरी आदि में आदमी को प्रवृत्त करते हैं, अशुभ अनुष्ठान में आदमी को ले जाते हैं । केन्द्रीय तत्त्व है दोष । अनार्यकर्म का सबसे बड़ा प्रेरक तत्त्व है दोष, कषाय । आर्य कर्म का प्रेरक तत्त्व है कषाय की मंदता । जिसका कषाय शान्त है, उसकी इन्द्रियां उपशान्त होगी । उसके सामने कितनी ही बढिया चीज रखो, हाथ नहीं उठाएगा । यदि कषाय प्रबल है तो हाथ ही क्या, सारा शरीर उठ जायेगा ।

आर्य कर्म

३३

इतना ज्यादा परिवर्तन होता है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते । हमारे कार्य का कारण या कसौटी है दोष तत्त्व ।

भगवान् महावीर ने हिंसा को अनार्य कर्म कहा । हिंसा के प्रवचन करने वाले वचन को भी अनार्य वचन कहा । अनार्य कर्म की परिभाषा की जा सकती है— कषाय की तीव्रता जिस आचरण के साथ है, वह अनार्य कर्म है । जिस आचरण के साथ कषाय की तीव्रता नहीं है, कषाय की मंदता है वह है आर्य कर्म । आर्य और अनार्य का संबंध जाति के साथ भी रहा है , जाति को भी बांटा गया है— आर्य जाति और अनार्य जाति । किन्तु यहां गुणों के साथ बांटा गया, किसी जाति के साथ संबंध नहीं है । एक कसौटी बन गई— कषाय की मंदता में जो आचरण होता है, वह प्रवृत्ति है आर्य कर्म और कषाय की प्रबलता में जो कर्म होता है, वह अनार्य कर्म है । उत्तम पुरुष वह होता है, जो आर्य कर्म करता है, अनार्य कर्म नहीं । जो व्यक्ति वर्तमान जीवन को भी अच्छा बनाता है और भावी जीवन को भी अच्छा बनाता है, वह उत्तम पुरुष है ।

नियामक है परलोक-दर्शन

बहुत महत्त्वपूर्ण है दोनों लोकों की दृष्टि से सोचना । केवल वर्तमान जीवन अच्छा बने, इस पर ही सोचना पर्याप्त नहीं है । यह ठीक है कि वर्तमान जीवन अच्छा होगा तो भावी जीवन अपने आप अच्छा हो जाएगा । किन्तु वर्तमान जीवन अच्छा कब बन सकता है ? वह तब बनता है जब भावी जीवन का दर्शन सामने हो । एक पायलट वायुयान को उड़ा रहा है, ड्राइवर बस या कार को चला रहा है, एक कुशल नाविक नौका को खे रहा है, वह अच्छा तब कहलाएगा, जब उसके सामने यह दर्शन रहे— कुशल-क्षेम के साथ मंजिल पर पहुंच जाना और अपने यात्रियों को भी सकुशल गंतव्य तक पहुंचा देना । यह स्थिति सामने है तो वह कुशलता से अपने वाहन को चलाएगा । यदि लापरवाह है तो शराब के नशे में चलाएगा, नींद के झोंके में चलाएगा, स्वयं मरेगा और साथ के सभी लोगों को भी मारेगा । हमारे सामने एक लक्ष्य है । उसकी एक नियामकता है परलोक का दर्शन । भावी जीवन की चिन्ता एक नियामकता है । मेरा अगला जीवन बिगड़े नहीं, भावी जीवन अच्छा

बने, जिसमें यह चिंतन प्रस्फुटित हो गया, वह वर्तमान जीवन को कभी नहीं बिगाड़ पाएगा। वर्तमान जीवन ही भावी जीवन का निर्माता है। यदि वर्तमान जीवन को बिगाड़ दिया तो भावी जीवन अच्छा नहीं बनेगा। इसलिए आचरण का एक नियामक तत्त्व बनता है परलोक-दर्शन। हमारा आचरण वर्तमान का होता है और निर्जरा भी वर्तमान काल में ही होती है। जितना भी धर्म है, सब वर्तमान क्षण में होता है। यह कभी नहीं होता कि मैं आज करूं और धर्म दस दिन में हो जाए। यह वर्तमान का अनुभव है और वर्तमान में होगा। किन्तु उसका लाभ और फल भविष्य में मिलेगा। इसलिए वर्तमान जीवन पर ध्यान केन्द्रित करें और भावी जीवन को उसका नियामक तत्त्व बनाएं। जिसमें यह दृष्टि जाग जाती है, वह उत्तम पुरुष है।

विकास का सूत्र

आर्य कर्म कैसे हो, इस दृष्टि को जागृत करने के लिए अभ्यास की जरूरत है, प्रयत्न की जरूरत है। सीधी दृष्टि मिलती नहीं है। कोई-कोई जीव ऐसा होता है, जिसके कर्म बहुत घिस जाते हैं। जैसे पत्थर ठोकर खाते-खाते घिस जाता है, या नदी में प्रवाहित होते-होते चिकना बन जाता है। वैसा कोई होता है तो अपने आप निसर्ग से वह चेतना जाग जाती है। किन्तु सबमें ऐसा नहीं होता। ऐसा अभ्यास और प्रयत्न से ही संभव है। अभ्यास करने का सूत्र हाथ में आ जाए तो चंचलता भी कम होनी शुरू हो जाएगी। जो व्यक्ति अभ्यास को परिपक्व करेगा, बढ़ाएगा, निश्चित है, उसकी चंचलता कम हो जाएगी। अभ्यास को नहीं बढ़ाएगा तो चंचलता कम नहीं होगी।

अभ्यास सार्थक बने

विकास का सूत्र है अभ्यास। सम्यक् दर्शन भी दो प्रकार का होता है—तन्निसर्गात् अधिगमात् वा। किसी को निसर्ग से मिल जाता है, किन्तु अधिकांश लोगों को अधिगम से मिलता है, अभ्यास से मिलता है। आचरण भी दो प्रकार का होता है—अभ्यासजन्य और निसर्गज। जैसे-जैसे हमारा

अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे दृष्टि भी साफ होती जाती है, दोष भी मंद होता जाता है, हमारा चिंतन उभयलोकव्यापी होता जाता है। वर्तमान जीवन को अच्छा करना और भावी जीवन को भी अच्छा करना— यह है आर्य कर्म। इस आर्य कर्म की प्रेरणा जागे और हर व्यक्ति यह प्रयत्न करे कि मुझे अधमतम चिंतन में नहीं जाना है, अधम कोटि के चिंतन में भी नहीं जाना है, विमध्यम और मध्यम कोटि के चिंतन में भी नहीं जाना है, उत्तम पुरुष बनना है। इतना लक्ष्य बन जाए तो साधना की बहुत बड़ी सफलता और अभ्यास की बहुत बड़ी सार्थकता है।

परमार्थ

मनुष्य चिंतनशील प्राणी है ; वह सोचता है, विचार करता है और प्रत्येक विचार किसी संदर्भ के साथ करता है । मनुष्य की कोटियों के बारे में विचार किया गया । अधमतम, अधम, विमध्यम, मध्यम, उत्तम— इन पांच कोटियों पर मोक्ष के संदर्भ में विचार किया गया । जिस व्यक्ति का मोक्ष के प्रति कोई लगाव नहीं होता, बंधनमुक्त होने की कोई अवधारणा ही जिसके मन में नहीं होती, उस व्यक्ति को बिल्कुल निकृष्ट माना गया । इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका जीवन कोई निकृष्ट या अधमतम ही हो । अलग-अलग अपेक्षाएं होती हैं और अपेक्षा के साथ विचार को समझना होता है । अपेक्षा को छोड़ कर किसी शब्द और विचार को समझें तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है । शब्द कोई अर्थ नहीं देता । शब्द की अपेक्षा को समझें तभी कोई बात समझ में आती है । शब्द के तात्पर्य और संदर्भ को न समझ पाएं तो अज्ञान झलकता है ।

मां ने अपनी लड़की से कहा— आज तुम्हारे प्रति मेरे मन में बहुत स्नेह का भाव जाग रहा है । 'आइ लव टु यू टू माइक्स । लडकी शब्द के भाव और संदर्भ को समझ नहीं सकी । वह बोल उठी— आइ लव टू यू श्रीमाइक्स ।' टू के आगे श्री आ गया ।

उत्तम है मोक्ष लक्ष्मी

शब्द के संदर्भ को समझे बिना अर्थ को समझेंगे तो उसका अर्थ भी गड़बड़ा जायेगा । इसलिए हमें संदर्भ को समझना है । मनुष्य का जो वर्गीकरण किया गया है, वह सारा मोक्ष को सामने रख कर किया गया है । इस दृष्टि

से जिसके मन में मोक्ष की कोरी स्थूल कल्पना जाग रही है, उसे अधम, अधमतर कुछ भी कहा जा सकता है। उत्तम उसे माना गया है, जो व्यक्ति न कुल के लिए प्रयत्न करता है, न सुख सुविधा के लिए करता है। जिसका लक्ष्य केवल मोक्ष पाना है, वह व्यक्ति उत्तम होता है। जिस आधार पर वर्गीकरण किया गया है, उस आधार पर उत्तम वही होता है, जो मोक्षलक्षी है, आत्मलक्षी है।

संदर्भ मंगल का

हम मंगल शब्द का निदर्शन लें। विवाह का प्रसंग। दीप जलाया। विवाह का प्रसंग है इसलिए कहा जाएगा— दीप जलाना बड़ा मांगलिक कार्य है। दीप जलाना मंगल बन गया। प्रसंग है अहिंसा का। कोई दीप जलाएगा तो कहा जाएगा— यह मंगल नहीं है। मंगल तो अहिंसा है— ‘धम्मो मंगल मुक्किट्ठं।’ अहिंसा संजमो तवो।’ अहिंसा मंगल है, दीप जलाना मंगल नहीं है। हर शब्द संदर्भ के साथ अपना तात्पर्य देता है। जहां लौकिक मंगल का संदर्भ है वहां दूध भी मंगल है, दही भी मंगल है। नारियल भी मंगल है, अक्षत भी मंगल है। ये सब मंगल बन जाते हैं। किन्तु जहां आत्मा का संदर्भ है, वहां न धूप मंगल है, न दीप मंगल है। वहां मंगल है आत्मा का पवित्र भाव, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र।

निक्षेप का तात्पर्य

निक्षेप की पद्धति में मंगल के दो भेद किये गए— द्रव्य मंगल और भाव मंगल। लौकिक मंगल द्रव्य मंगल है। भाव मंगल आत्मा का स्वरूप है। निक्षेप का तात्पर्य है प्रत्येक विचार को संदर्भ के साथ समझने का प्रयत्न। संदर्भ को काट कर तत्त्व के अर्थ को समझने का प्रयत्न करोगे तो कुछ भी पल्ले नहीं पड़ेगा। विपरीत अर्थ का ग्रहण भी हो जायेगा। इसलिए सर्वत्र संदर्भ को प्रस्तुत करना होता है। निक्षेप का अर्थ ही अप्रस्तुत को हटा देना और प्रस्तुत को सामने रखना होता है। प्रस्तुत है मोक्ष। मोक्षशास्त्र की दृष्टि से सारा विचार किया जा रहा है। जब सामने लक्ष्य मोक्ष है, उसे

केन्द्र में रख कर चिंतन करते हैं, तब उत्तम व्यक्ति वही होगा, जो बंधनमुक्त होना चाहता है ।

अमरत्व की भावना

भृगु ने अपने पुत्रों से कहा— 'पुत्रो ! अभी तुम संसार में रहो, भोग करो, विवाह करो और जब बड़े हो जाओगे तो मैं भी तुम्हारे साथ बूढ़ा होकर दीक्षा लूंगा । अभी तुम दीक्षा की बात मत करो ।' उन्हें पिता की ये सारी बातें मान्य नहीं हुईं । इसका कारण स्पष्ट था— जब लक्ष्य मोक्ष है तो कोई भी लौकिक बात— भोग, पदार्थ, इन्द्रिय तृप्ति, धन— ये सब मूल्यहीन बन जाते हैं । ये सब एक तिन्के की तरह क्षणभंगुर लगते हैं, इनमें कोई स्वाद प्रतीत नहीं होता । ध्रुव का भी यही प्रसंग है । वह बहुत छोटी अवस्था में विरक्त हो गया । नचिकेता को भी कितने प्रलोभन दिये गए । उसने कहा— मुझे आत्मा चाहिए और कुछ नहीं । मैं आत्मा को जानना चाहता हूं । उसका रहस्य जानना चाहता हूं, और मुझे कुछ नहीं चाहिए । जब मैत्रेयी के सामने यही प्रश्न आया तो उन्होंने कहा— 'मैं धन को लेकर क्या करूं ? उस धन से मुझे क्या, जिससे मैं अमृत न बनूं । मुझे तो केवल अमृतत्व चाहिए । यह अमरत्व की भावना, अमर तत्व या मोक्ष की भावना जिसमें जग जाती है, वह व्यक्ति उत्तम बन जाता है । उसके लिए भौतिक चीजें छोटी पड़ जाती हैं । प्रत्येक व्यक्ति उस चीज को पाना चाहता है, जो बड़ी चीज है । जब मोक्ष जैसा परम अर्थ सामने आ जाता है तब दुनिया की सारी चीजें बहुत छोटी पड़ जाती हैं, उनका कोई आकर्षण नहीं रह जाता ।

उत्तमोत्तम

आचार्य उमास्वाति ने उत्तम से भी आगे एक और कोटि का निर्देश दिया है— उत्तमोत्तम । अर्थात् उत्तम में भी उत्तम । उत्तम में भी उत्तम कौन है ? इस प्रश्न को समाहित करते हुए उन्होंने कहा— जो कृतार्थ होकर भी धर्म का उपदेश देता है, वह व्यक्ति उत्तमोत्तम है । जो कृतार्थ बन गया, केवली बन गया, जिसके चार घाति कर्म क्षीण हो गए, अब कुछ भी करने

की आवश्यकता नहीं है। फिर भी जो उपदेश देता है धर्म का प्रवचन करता है, लोगों को संबोधि देता है, वह उत्तमोत्तम है।

यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तममवाप्य धर्म परेभ्य उपदिशति ।
नित्यं स उत्तमेभ्योऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ॥

पूज्य है उत्तमोत्तम

उत्तम व्यक्ति बड़ा है, पर पूज्य नहीं। पूज्य बनता है उत्तमोत्तम व्यक्ति। उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं है। कुछ भी करना शेष नहीं है, केवल करुणार्द्रचेता है। एक करुणा की दृष्टि है— मैंने जिस सत्य का साक्षात्कार किया है, उस सत्य का साक्षात्कार दूसरे भी कर सकें, केवल यही प्रयोजन है। मैंने जो मोक्ष का अनुभव किया है, उसे दूसरे लोग भी कर सकें। हम यह न मानें कि मरने के बाद ही मोक्ष होता है। वर्तमान जीवन में भी मोक्ष का अनुभव हो जाता है। जो वीतराग हो गया, उसे मोक्ष का अनुभव हो गया। जो वीतराग केवली बन गया, मोक्ष उसके सामने आ गया। वह चाहता है कि दूसरे लोग भी उस मोक्ष का अनुभव करें। इसलिए वह सत्य का प्रतिपादन करता है। जो जाना है, उसे दूसरों के सामने प्रस्तुत करना चाहता है।

प्रवृत्ति क्यों ?

अनेक विद्वानों ने इस संदर्भ में एक प्रश्न उपस्थित किया है— जब कोई व्यक्ति कृतार्थ हो गया, केवली बन गया तो वह कोई प्रवृत्ति क्यों करे, क्यों बोले ? उसे तो निष्कर्म और प्रवृत्तिशून्य रहना चाहिए। प्रवृत्ति होती है प्रयोजन के साथ। बिना प्रयोजन कोई प्रवृत्ति नहीं होती। न्यायशास्त्र में कहा गया है— 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्त्तते।' प्रयोजन के बिना कोई मूर्ख आदमी भी प्रवृत्ति नहीं करता। जो बड़े ज्ञानी हैं, वे निष्प्रयोजन प्रवृत्ति क्यों करते हैं ? जब कृतार्थ हो गए, सारे प्रयोजन सिद्ध हो गए, फिर प्रवृत्ति क्यों ? इसका एक समाधान यह दिया गया है कि तीर्थकर के तीर्थकर नाम कर्म

का उदय होता है, इसलिए उन्हें प्रवृत्ति करनी पड़ती है। किन्तु इससे भी अधिक प्रभावशाली समाधान यह हो सकता है कि स्वयं सत्य का साक्षात्कार कर दूसरों के लिए भी साक्षात्कार करने का मार्ग बतलाए, शायद इससे बड़ी दुनिया में कोई सेवा नहीं हो सकती, कोई सहयोग नहीं हो सकता।

समस्या है काल्पनिक दुःख

सबसे बड़ी सेवा है एक आदमी को सत्य के मार्ग पर ले जाना। जब सत्य का मार्ग नहीं होता है तो सारे दुःख पैदा हो जाते हैं। दुःख के अनेक कारण माने जाते हैं। घर में रोटी नहीं है, कपड़े नहीं हैं तो आदमी दुःखी बन जाता है। रहने को मकान नहीं मिलता है तो आदमी दुःखी बन जाता है। मनचाही वस्तु नहीं मिलती है तो आदमी दुःखी बन जाता है। दुःख के ये कारण बहुत छोटे लगते हैं। जिसके पास दो हाथ और बीस अंगुलियां हैं, वह व्यक्ति कभी भूखा नहीं रहता, जैसे-तैसे रोटी जुटा ही लेता है। एक छोटा-सा पक्षी भी अपने लिए खाना जुटा लेता है तो मनुष्य जैसा बुद्धिमान् प्राणी रोटी की व्यवस्था कैसे नहीं जुटा पायेगा? वह इन सबकी व्यवस्था कर सकता है किन्तु सबसे बड़ा है काल्पनिक दुःख। व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान् हो, कितना ही पढ़ा-लिखा हो, काल्पनिक दुःखों का अन्त नहीं पा सकता। बुद्धि प्रबल होती है तो वह काल्पनिक दुःखों को बढ़ा देती है। बुद्धि का काम दुःखों को मिटाना कम है, बढ़ाना शायद ज्यादा है। जैसे मकड़ी अपना जाल बुनती है, वैसे ही बुद्धि अपना जाला बुनती है और आदमी उसमें ऐसा फंसता है कि कभी अंत ही नहीं आता। काल्पनिक दुःख बहुत बड़े हैं और वे तभी मिट सकते हैं, जब सत्य का साक्षात्कार हो जाए।

वह नकली था

एक महिला ने अपने पति से कहा— 'मुझे हार ला दो। मेरी सब सहेलियों के पास हार हैं, मेरे पास नहीं है।' बहुत आग्रह किया। पति ने सोचा— व्यर्थ में पैसा लगाना है, कोई प्रयोजन और आवश्यकता नहीं है। वह पैसा व्यापार में लगे तो उपयोग होगा। हार में लगने से क्या लाभ होगा। पति

ने बहुत समझाया, पर पत्नी नहीं मानी। आखिर एक दिन पति बाजार से एक बहुत बढ़िया हार लेकर आया। पत्नी ने हार को पहना, खुश हो गई। संयोग ऐसा हुआ कि दूसरे दिन ही जब उतार कर स्नान करने गई, हार चोरी हो गया। जितनी खुश हुई थी, उससे सौ गुना दुःखी हो गई। उसकी भूख-प्यास मर गई। पति ने कहा— 'चिन्ता मत करो। यह तो पदार्थ का स्वभाव है, आता है और चला जाता है।' पत्नी बोली— 'आप कैसे आदमी हैं! मुझे तो दुःख हो रहा है और आपको हंसी आ रही है। एक दुःखी आदमी किसी को हंसता हुआ देखता है तो उसे अच्छा नहीं लगता। दुःखी आदमी के सामने दुःखी हो जाए तो उसे अच्छा लगता है, उसके सामने कोई सुखी आ जाए और हंसे तो उसे लगता है— यह मेरा मखौल उड़ा रहा है, मेरा उपहास कर रहा है। पति का दुःखी न होना उसके लिए सिरदर्द बन गया। उसने कहा— 'बस, अब रहने दो, मुझसे बात मत करो। मेरा दुःख तुम्हें अच्छा लग रहा है, इसलिए हंस रहे हो।' पति बोला— तुम जल्दी मत करो, सचाई को समझो और सचाई यह है कि मैं जो हार लाया था, वह नकली था। इसलिए चिन्ता मत करो।' 'क्या वह नकली था?' 'हां, वह नकली था'— यह सुनते ही पत्नी का सारा शोक गायब हो गया।

अधम से अधम

जब सत्य का साक्षात्कार होता है तब दुःख टिक नहीं पाता। यदि हम विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि सौ में से अस्सी-नब्बे प्रतिशत दुःख असत्य और अज्ञानजनित धारणा के कारण पैदा होते हैं। यथार्थ दुःख के कारण बहुत कम होते हैं। अधिकांशतः दुःख नकली को असली मान लेने के कारण होते हैं। जब सचाई का पता चलता है, तो दुःख गायब हो जाता है। सत्य का साक्षात्कार करना और साक्षात्कार का मार्ग बताना, इससे बड़ा उत्तम कार्य मेरी दृष्टि में नहीं है। इसलिए जो व्यक्ति यह कार्य करता है, वह उत्तमोत्तम है। एक व्यक्ति ध्यान करता है। ध्यान से आनंद मिला, सत्य का अनुभव हुआ। वह व्यक्ति दूसरों को बताता है कि भाई, यह मार्ग अच्छा है, यह दुःखों को मिटाने का मार्ग है। वह व्यक्ति भी उसी उत्तमोत्तम का अनुसरण

कर रहा है, उसी मार्ग पर चल रहा है। इस दुनिया में जितने भी लोग हैं, जो प्रवचनकार और उपदेशक हैं और सत्य का मार्ग बताते हैं, वे वास्तव में उत्तमोत्तम की दिशा में प्रस्थान करने वाले हैं। जो सत्य के स्थान पर असत्य का मार्ग बतलाते हैं, वे निश्चय ही अधममम कोटि के हैं। वह व्यक्ति शायद अधम से अधम होता है, जो गलत रास्ता बताता है। उससे अधिक खतरनाक और कोई नहीं हो सकता !

वह अनंत जीवों का हिंसक है

निर्युक्ति साहित्य में एक बहुत महत्वपूर्ण बात बताई गई है। एक व्यक्ति किसी प्राणी को मार रहा है या मारता है तो वह हिंसक है। दूसरा व्यक्ति किसी को यह कहता है कि क्यों फालतू डर रहे हो ? हरियाली पर पैर मत रखो, हरियाली मत खाओ, कच्चा पानी मत पीओ— यह सब बेकार की बातें हैं, इसमें हिंसा-अहिंसा जैसा कुछ नहीं है, सारहीन बातें हैं ये सब। न कोई मरता है, न जीता है। मरना-जीना सबकी नियति है। जो प्राणी जन्मे हैं, मरने के लिए ही तो जन्मे हैं। मनुष्य इस धरती का सबसे बड़ा और परिष्कृत प्राणी है, उसे यह अधिकार है कि वह अपने से छोटे प्राणियों को मारे-खाए। शास्त्रकार कहते हैं— एक व्यक्ति को मारने वाला उस व्यक्ति का ही हिंसक है, किन्तु ऐसी बातें कहने वाला अनंत जीवों का हिंसक है। उसने इतना गलत उपदेश दे दिया कि जिससे सारे लोग भ्रान्त हो गए। सब लोग मुक्त हो गए जीवों को मारने के लिए। असत्य पथ की ओर ले जाने वाला सबसे अधम व्यक्ति होता है। उसका कार्य या चिंतन भी अधम ही होता है। सत्य की ओर ले जाने वाला सबसे उत्तम होता है। उसका सारा कार्य और चिंतन उत्तमोत्तम होता है। सत्य का साक्षात्कार जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। हम मोक्ष के संदर्भ को एक बार छोड़ दें। लौकिक संदर्भ को भी समझें। मनुष्य हजारों वर्षों से विकास की यात्रा कर रहा है। विकास पहले भी होता रहा है। आज कुछ लोग कहते हैं कि विज्ञान के कारण अधिक विकास हो गया। पर यह विश्वास कैसे हुआ ? अज्ञान से तो लाभ नहीं हुआ ? ज्ञान से हुआ है, सत्य को जानने से हुआ है। सत्य का अर्थ है नियम को जानना। जब नियम का पता नहीं होता, तो भ्रान्ति पैदा होती है।

अग्नि का नियम

यौगलिक युग में भगवान ऋषभ के समय अकस्मात् अग्नि प्रकट हो गई। उससे पहले अग्नि नहीं थी। जैन दर्शन का अग्नि के लिए एक नियम है— स्निग्धकाल में अग्नि पैदा नहीं होती, अत्यन्त रुक्षकाल में अग्नि पैदा नहीं होती। अग्नि को पैदा होने के लिए स्निग्ध-रुक्ष वातावरण चाहिए। आज की भाषा में स्निग्ध का अर्थ है पोजिटिव चार्ज और रुक्ष का अर्थ है नेगेटिव चार्ज। पोजिटिव और नेगेटिव— दोनों होते हैं तब अग्नि पैदा होती है। बंधन भी तभी होता है, जब स्निग्ध और रुक्ष दोनों होते हैं। स्निग्ध की स्थिति बनी, अग्नि पैदा हो गई। मनुष्य ने पहले कभी अग्नि देखी नहीं थी। वे डरकर भागे और भगवान् ऋषभ के पास आये। बोले— जंगल में पता नहीं क्या आया है, सबको जलाता जा रहा है। भगवान् ने अपने ज्ञान से जान लिया और कहा— 'डरने की कोई बात नहीं है। अग्नि पैदा हुई है। तुम लोग कहते थे कि हम लोग जो खाते हैं, वह पचता नहीं है। अब इस अग्नि में अन्न पकाओ और खाओ, सब पच जायेगा। लोग प्रसन्न हुए। जो अन्न था, सब अग्नि में डाल दिया और सब स्वाहा हो गया। वे फिर ऋषभ के पास आए और बोले— भगवन् ! पता नहीं क्या है, हमने जितना भी डाला, वह अग्नि सब खा गई। ऐसा इसलिए हुआ कि उस समय लोग सत्य को जानते नहीं थे।

सुख है सत्य की खोज

सत्य को न जानने के कारण अनेक समस्याएं पैदा होती हैं। एक सूत्र समझ में आ जाए दुःखों को बांटने का, उसे मिटाने का तो यह समस्या हल हो जाए। दुःख को मिटाने का सबसे शक्तिशाली साधन है सत्य का साक्षात्कार। युनिवर्सल ट्रूथ या जागतिक नियम जान लें तो बहुत सारे कष्ट कम हो जाते हैं। आचार्य ने कहा— वह व्यक्ति उत्तमोत्तम है, जो स्वयं सत्य का साक्षात्कार करता है और दूसरों को सत्य के साक्षात्कार का मार्ग बताता है। वह सबके दुःख का विनाश करने वाला है, सबके दुःख को मिटाने वाला

है। यह दुःखमुक्ति का उपाय बतलाना सबसे बड़ी साधना है, सबसे बड़ी सेवा है।

आचारशास्त्रीय दर्शन, जो सब दर्शनों का मूल रहा है— उसमें चार ही बातें मुख्य हैं— दुःख और दुःख का हेतु। सुख और सुख का हेतु। बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्य माने गए हैं— दुःख है और दुःख का हेतु है। निर्वाण है और निर्वाण का हेतु है। इन चार सत्यों पर बौद्ध दर्शन की आधारशिला खड़ी है। जैन दर्शन में भी यही चार बातें हैं— कर्म है, कर्म का हेतु है। मोक्ष है, मोक्ष का हेतु है। इन चार तथ्यों में ही सब कुछ समा जाता है। सत्य क्या है? सत्य है सुख को खोजना। निर्वाण, मोक्ष या सुख के हेतु को जानना। सत्य का एक अंग होगा दुःख के हेतु को जानना। जो इन सत्यों को जानता है, इन सत्यों को दूसरों के सामने प्रस्तुत करता है, उससे बड़ा कोई और सुखी बनाने वाला नहीं है और उससे बड़ा कोई दूसरा हित वांछक नहीं है। हितैषी वही है, जो शाश्वत सुख का मार्ग बताए। व्यक्ति छोटा-मोटा काम करता है और परोपकार की अनुभूति कर लेता है। वास्तव में परोपकार वह करता है, जो सत्य का मार्ग बताता है।

पेटी है स्वर्ग में

एक व्यक्ति बहुत लोभी था। उसने एक पेटी बना रखी थी। जो भी धन कमाता, उससे हीरा, माणक आदि खरीदता और उस पेटी में डाल देता। वह धन कमाता चला गया, मूल्यवान् पदार्थ खरीदता चला गया। बहुत मूल्यवान् पेटी तैयार हो गई। वह यह सोच कर बहुत प्रसन्न होता कि मेरे पास बहुत है। लोगों को पता चल गया। दुनिया में पता चला लेने वालों की कोई कमी नहीं है। बहुत सारे लोग ऐसे हैं, जो स्वयं नहीं कमाते, किन्तु दूसरे लोग जो कमाते हैं, उसका पता लगाते रहते हैं।

तीन आदमी मर कर यमराज के पास पहुंचे। यमराज ने पूछा— भाई, तुम क्या चाहते हो? कहां जाना चाहते हो? “पहला बोला— मैं तो जागीरदार था, किन्तु जागीर छूट गई। अब आप मेहरबानी करें और मुझे फिर जागीरदार बना दें। दूसरा बोला— ‘मैं तो धनवान् सेठ था। बहुत धन कमाता था।

मेरा सारा धन वहां रखा हुआ है, कुछ अन्दर गड़ा हुआ भी है, मुझे तो आप वापस वहीं भेज दें। तीसरा जो चोर था, उससे पूछा गया— 'बोलो, तुम क्या चाहते हो?' चोर बोला— 'मैं और कुछ नहीं चाहता, मुझे तो बस इन दोनों का पता बता दें।'।

सेठ के धन का पूरा पता लग गया और एक दिन धन की मंजूषा गायब हो गई। सेठ दुःखी हुआ। इतने दिनों का संचित धन इस तरह चला जाए तो दुःख का होना स्वाभाविक ही है। अब वह रात-दिन रोता-कलपता, छाती पीटता। लोगों ने समझाया, पर कुछ भी फर्क नहीं पड़ा। आखिर परिवार वालों ने एक मनश्चिकित्सक को बुलाया। मनश्चिकित्सक सारी बात जान कर उस व्यक्ति के पास आया और बोला— 'सेठ साहब, आप दुःखी क्यों हैं ?

सेठ बोला— 'दुःखी क्यों न होऊं ? आप देखते नहीं, इतने दिनों का कमाया मेरा सारा धन चोरी चला गया। जीवन भर की कमाई लुट गई। मेरी पेट्टी चली गई।'।

मनश्चिकित्सक सूझबूझ वाला आदमी था। बोला— 'सेठजी, चिन्ता मत करो, चिन्ता की कोई बात नहीं है।'।

'चिन्ता कैसे नहीं करूं ?'

'चिन्ता इसलिए न करें कि आपको ज्यादा दिन जीना नहीं है, मरने के दिन करीब हैं। तुमने बहुत दान-पुण्य किये हैं, इसलिए मरने के बाद स्वर्ग निश्चित है। उस पेट्टी ने सोचा— सेठजी तो स्वर्ग में जाने वाले हैं, फिर मैं यहां रह कर क्या करूंगी ? ऐसा सोच कर वह पेट्टी आपसे पहले ही स्वर्ग पहुंच गई है। आप शीघ्र ही उसके पास पहुंच जाएंगे।'।

सेठ ने कहा— 'ओह, यह बात है ?'

सेठ का सारा दुःख एक क्षण में गायब हो गया।

समान् दृष्टि का अर्थ

हमारा दुःख कल्पनाजनित और अज्ञान के कारण होता है। मनश्चिकित्सक ने कोई सत्य नहीं बतलाया, किन्तु सत्याभास से उन्हें परिचित कराया। सत्याभास ही दुःख मिटाने का हेतु बन सकता है तो सत्य का

साक्षात्कार होने पर क्या नहीं हो सकता ? जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है सत्य का साक्षात्कार । इसलिए सत्य के साक्षात्कार का जो मार्गदर्शन देता है, वह उत्तमोत्तम है और वही व्यक्ति पूज्य होता है । पूजा गुण शून्य की कभी नहीं होती । पूजा गुण के आधार पर होती है । इससे बड़ा कोई गुण नहीं है कि सत्य का मार्ग बताया जाए । एक व्यक्ति को मिथ्यादृष्टि बनाना अनंत जीवों को हिंसा की ओर ले जाना है । एक व्यक्ति को सम्यग्दृष्टि बनाना अनंत जीवों के प्रति अहिंसा और मैत्री का भाव बढ़ाना है । एक व्यक्ति को सम्यक्दृष्टि बना देना बहुत बड़ी बात है । तीर्थंकर केवली कृतार्थ होकर कितने जीवों के लिए पथप्रदर्शक बनते हैं । वे वास्तव में उत्तमोत्तम हैं ।

दूसरों को मार्ग दिखाएं

जैन दर्शन का मुख्य सूत्र रहा— 'तिन्नाण तारयाणं ।' बुद्धाणं बोहयाणं । स्वयं तरता है, दूसरों को तारता है, स्वयं बुद्ध होता है, दूसरों को बुद्ध बनाता है । स्वयं मुक्त होता है, दूसरों को मुक्त बनाता है । कुछ बनाना किसी के हाथ में नहीं है । बुद्ध बनाना किसी के हाथ में नहीं है, मुक्त करना और तारना भी किसी के हाथ में नहीं है । किन्तु वह बोधि और मुक्ति का मार्ग दिखा देता है । बुद्ध होने का यह मार्ग है और मुक्त होने का यह मार्ग है । यह मार्गदर्शन, सत्य के मार्ग का प्रतिपादन कितना बड़ा कार्य है, इस दृष्टि से हम विचार करें । जो सत्य का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो गया, वह दूसरों को भी सत्य का साक्षात्कार करने का मार्ग बताए, तब संपूर्ण बात बनती है । कोरा अकेला मुक्त होगा, तो स्वार्थी बन जाएगा । बौद्धों में एक संप्रदाय है महायान । उसका मत है— मैं अकेला मुक्त नहीं होऊंगा, सबके साथ मुक्त होऊंगा । कल्पना तो बहुत अच्छी है, पर यह हाथ की बात नहीं है । किन्तु जो सत्य स्वयं पाया, दूसरों को भी उस सत्य की प्राप्ति का मार्ग बताएं, यह हाथ की तो बात है । कोई मार्ग पर चले या नहीं, हमारे हाथ की बात नहीं है । यह एक व्यावहारिक बात है । महायान जैसी काल्पनिक या असंभव बात नहीं है । इस संभव आचरण को करने वाला व्यक्ति वस्तुतः उत्तमोत्तम होता है, हमारे लिए पूज्य बनता है ।

हितोपदेश

नीतिशास्त्र का एक विश्रुत ग्रंथ है 'हितोपदेश ।' वह विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है । उससे उन्हें पथदर्शन मिलता है । जो स्वयं ज्ञानी बन गया, अतिशय ज्ञानी बन गया, कृतार्थ बन गया, फिर भी वह हित का उपदेश देता है । किसलिए देता है ? आचार्य कहते हैं— 'हित का उपदेश देने वाला स्वयं पर भी अनुग्रह करता है, दूसरों पर भी अनुग्रह करता है । इसलिए हितोपदेश्या अपने श्रम की चिन्ता न करे, किन्तु श्रेय का प्रतिदपान करे—

श्रममविचिन्त्यात्मगतं, तस्माच्छ्रेयः सदोपदेशष्टव्यम् ।
आत्मानं च परं च, आत्मोपदेश्यानुगृह्णाति ॥

प्रिय और हित

प्रेय और श्रेय— ये दो मार्ग हैं । प्रेय सामाजिक मार्ग हैं । श्रेय मोक्ष का मार्ग है । प्रिय लगना या अच्छा लगना— यह लौकिक मार्ग है । जिस प्रवृत्ति से इन्द्रियों को तृप्ति मिलती है, वह श्रेय का मार्ग है । श्रेय के मार्ग में इन्द्रिय तृप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । वहां केवल आत्मोदय का प्रश्न होता है । यह हित का मार्ग है । प्रिय और हित— ये दो तत्व हैं । एक कार्य प्रिय हो सकता है, किन्तु हितकर नहीं हो सकता । एक कार्य हितकर हो सकता है, किन्तु प्रीतिकर नहीं होता । प्रिय भी अहितकर हो सकता है और अप्रिय भी हितकर हो सकता है । ज्वर में मिठाई खाना प्रिय हो सकता है, हितकर नहीं । कड़वी दवा या नीम की पत्ती खाना प्रिय तो नहीं है किन्तु हितकर होता है । प्रिय और हित— दोनों अलग-अलग हैं ।

भाषा एक : संदर्भ भिन्न

हित का उपदेश जीवन की व्यवस्था करता है। जीवन की व्यवस्था के दो कोण हैं— पहला कोण है अपने जीवन को भौतिक विकास की यात्रा में ले जाना, अच्छा जीवन जीना। दूसरा कोण है— जीवन की यात्रा निःश्रेयस् या मोक्ष की ओर चले, उसकी व्यवस्था करना। महर्षि रमण, जो इस शताब्दी के बहुत बड़े साधक हुए हैं, वे एक प्रश्न अपने से पूछते और हर आने वाले से भी पूछते— ‘हू ऐम आई ?— मैं कौन हूँ ?’ यह प्रश्न पूछा गया मोक्ष के संदर्भ में, आत्मा की खोज के लिए। प्रत्येक आत्मार्थी व्यक्ति के सामने यह प्रश्न होता है कि मैं कौन हूँ ? आज के वैज्ञानिक युग में जहां पर्सनल मैनेजमेंट या व्यक्तित्व व्यवस्थापन का प्रश्न आता है, वहां भी पहला प्रश्न यही पूछा जाता है— मैं कौन हूँ ? शब्दावली में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु संदर्भ दो बन गए। एक का संदर्भ है मोक्ष और दूसरे का संदर्भ है व्यक्तित्व-निर्माण।

एक प्रश्न आचारांगसूत्र में पूछा गया— ‘मैं कहां से आया हूँ ? पूर्व दिशा से आया हूँ ? पश्चिम दिशा से आया हूँ ? उत्तर अथवा दक्षिण दिशा से आया हूँ ? मैं किस दिशा से आया हूँ ? यही प्रश्न व्यक्तित्व व्यवस्थापन के संदर्भ में पूछा गया— ‘व्हेयर आई केम फ्रॉम ? मैं कहां से आया हूँ ?’ भाषा एक ही है, किन्तु संदर्भ सर्वथा भिन्न है।

ये प्रश्न एक प्रामाणिक पुस्तक में व्यक्तित्व निर्माण के संदर्भ में उपस्थित किये गये। अध्यात्म का प्रश्न है— मैं किस अवस्था में हूँ ? प्रमत्त अवस्था में हूँ या अप्रमत्त अवस्था में ? सराग अवस्था में हूँ या वीतराग अवस्था में ? व्यक्तित्व व्यवस्थापन का तीसरा प्रश्न है— मेरी वर्तमान दशा क्या है ? पर्सनल मैनेजमेंट की पुस्तक को देख कर आश्चर्य हुआ। जो प्रश्न अध्यात्म के विकास की यात्रा करने वाले व्यक्ति ने रखे या पूछे, वे ही प्रश्न व्यक्तित्व व्यवस्थापन के संदर्भ में भी सामने आए। संदर्भ भिन्न होता है, शेष कोई अन्तर नहीं रहता।

हमारे सामने दो संदर्भ हैं— एक लौकिक विकास का, दूसरा लोकोत्तर विकास का। एक हित का, दूसरा प्रिय का। प्रश्न है— हित का मार्ग क्या है ? हित का मार्ग आन्तरिक विकास का मार्ग है। इसमें बाहरी वस्तु पर

ध्यान नहीं जायेगा, आन्तरिक वस्तु पर ध्यान जायेगा, आत्मा के रूपान्तरण पर ध्यान जायेगा। कपड़ों पर, शरीर पर ध्यान नहीं अटकेगा। शरीर की सार-संभाल एक लौकिक कर्म है। आध्यात्मिक कर्म में आत्मा ही सामने रहेगी।

सबसे सुन्दर है मनुष्य जीवन

पौराणिक कहानी है। एक बार सूर्य के मन में आया— मैं पृथ्वी पर जाऊं और लोगों की समस्या का समाधान करूं। सूर्य वेश बदल कर पृथ्वी पर आया। एक नगर में घोषणा करा दी— जो कोई व्यक्ति कुरूप है, मेरे पास आए, मैं उसे सुन्दर बना दूंगा। सुरूप बनने की लालसा किसमें नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति की यह इच्छा होती है कि सुन्दर बनूं, सुन्दर दिखूं। भीड़ लग गई। सभी सौन्दर्य के आकांक्षी। योगीवेशधारी सूर्य ने उन सबको स्पर्श मात्र से सुन्दर बना दिया। पूरे नगर में इस चमत्कार की चर्चा हो गई। सभी सुन्दर बन गए। सूर्य ने जाने से पूर्व सोचा— पता कर लूं, सुन्दर बनने से कोई वंचित तो नहीं रह गया। नगर में घूमा। सभी सुन्दर दिखाई दिये। कुछ आगे बढ़ा, देखा— कुटिया में एक संन्यासी बैठा है। वह कुरूप है, सुन्दर नहीं है। अवस्था भी जीर्ण-शीर्ण है। सूर्य का संकल्प था कि इस नगर के सभी निवासियों को सुन्दर बना दूंगा। सूर्य उसके समीप गए और बोले— 'बाबा, तुमने घोषणा नहीं सुनी? इस नगर के सभी लोग चामत्कारिक रूप से सुन्दर हो चुके हैं। मैंने सभी को सुरूप बना दिया है, आप क्यों नहीं आए। बाबा बोला— लोगों से सुना तो था, किन्तु मैंने इसकी जरूरत नहीं समझी। मैं समझता हूं मनुष्य से सुन्दर इस दुनिया में और कोई नहीं। मनुष्य होकर मैं स्वतः सुन्दर हूं, फिर किसी से अतिरिक्त सुन्दरता क्यों मांगूं? संन्यासी की स्पष्टोक्ति सुनकर सूर्य अवाक् रह गया।

लौकिक दृष्टिकोण

सबसे सुन्दर है मनुष्य का जीवन। यह है आध्यात्मिक दृष्टिकोण। सुन्दर बनने की बात लौकिक दृष्टिकोण है। बड़े शहरों में, होटलों में चल

रहे ब्यूटी पार्लरों में कितने लोग जाते हैं। जगह-जगह सौन्दर्य और प्रसाधनगृह खुले हुए हैं। उनमें लोग जाते हैं और कृत्रिम प्रसाधनों से अपने आपको सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह लौकिक दृष्टिकोण है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण यह है— मनुष्य जीवन या आत्मा जिसे उपलब्ध है, उससे सुन्दर और कोई नहीं। आत्मा के सौन्दर्य के अभाव में बाह्य रूप से सुन्दर व्यक्ति भी अत्यन्त कुरूप है। सौन्दर्य है आत्मा में। जब आत्मा की दृष्टि जाग जाती है, बाहरी सौन्दर्य का आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह सौन्दर्य के प्रति आसक्ति ही है कि अवस्था बीत जाने पर भी अपने सफेद बालों को काला करने का प्रयत्न किया जाता है। कभी-कभी तो नकली दाढ़ी-मूंछें और सिर पर विग लगा ली जाती है। चेहरे पर लालिमा दिखाने के लिए भी न जाने कितने प्रयत्न किये जाते हैं। वस्तुतः ऐसा करने वालों ने आत्मा को समझा ही नहीं है।

प्रेय के मार्ग

जब आत्मानुभूति जागती है, श्रेय का मार्ग उपलब्ध होता है; तब व्यक्ति की मनोदशा बदल जाती है। इसीलिए कहा गया— हित का उपदेश देना चाहिए। सबसे बड़ा अनुग्रह है हितोपदेश। किसी को भोजन करा देना, कपड़े देना, मदद करना— ये सब प्रेय के मार्ग हैं। इन्हें श्रेय के साथ जोड़ कर बड़ी भ्रान्ति पैदा कर दी गई है। जहां निर्माण की बात करें, निःश्रेयस् की बात करें, श्रेय और हित का मार्ग प्रस्तुत होता है। एक हिंसक व्यक्ति को श्रेय का उपदेश दिया, उसका मार्ग बदल दिया, यह हित का मार्ग है। दस-बीस रुपये देकर तात्कालिक रूप से उसे हिंसा से विरत कर देना प्रेय का मार्ग है। प्रलोभन और भय— ये दोनों प्रेय के मार्ग हैं, श्रेय के मार्ग नहीं हैं।

जागृत हो विवेक

प्रसिद्ध संत राबिया एक दिन हाथ में बाल्टी और झाड़ू लेकर चले। किसी ने पूछा— यह आप क्या करने जा रहे हैं? उन्होंने कहा— इस दुनिया में दो सबसे खतरनाक चीजें हैं— भय और प्रलोभन। लोभ की जो आग जल

रही है, उसे मैं बाल्टी के पानी से बुझा दूंगा और भय की आंधी से जो सब अस्त-व्यस्त हो रहा है, उसे मैं झाड़ू से साफ कर दूंगा ।

श्रेय के मार्ग में जाने वाला व्यक्ति भी यदि प्रलोभन और भय में चला जाता है तो फिर वह लौकिक मार्ग हो जाता है । इन्हें पहचानने का हमारा विवेक जागृत होना चाहिए । आचार्य भिक्षु से एक व्यक्ति ने पूछा— 'एक छोटा बच्चा अपने हाथ में पत्थर लिये चींटियों को मार रहा है । किसी ने जबर्दस्ती उसके हाथ से पत्थर छीन लिया, इससे क्या हुआ ?' आचार्य भिक्षु बोले— जो पत्थर उसके हाथ में था, वह इसके हाथ में आ गया । बल प्रयोग से कभी श्रेय का मार्ग उपलब्ध नहीं होता । हृदय बदले, वृत्ति बदले, मन बदले, तब श्रेय का मार्ग होगा ।

क्या है हितोपदेश

प्रश्न है— हित का उपदेश क्या है ? ऐसे लोग भी हैं जो विवाह की विधि बतलाते हैं । ऐसे लोग भी हैं, जो व्यापार करने की विधि बतलाते हैं । ऐसे लोग भी हैं, जो लड़ाई करने की विधि बतलाते हैं । ये जीवन के विभिन्न पक्ष हैं, जो प्रेय के साथ जुड़े हुए हैं । ये हितोपदेश नहीं हैं । हितोपदेश है आत्मा के विकास की बात । कर्म का बंधन बहुत जटिल होता है । इन बंधनों को क्षीण करें, निर्जरा करें । संवर और निर्जरा— वास्तव में श्रेय के ये दो ही मार्ग हैं । आचार्य हेमचन्द्र ने एक श्लोक में श्रेय और प्रेय दोनों का चित्र खींच दिया —

आश्रवो भवहेतु, स्यात्: संवरो मोक्षकारणम् ।
इतीयमार्हती दृष्टिः, शेषमन्यत् प्रपंचनम् ॥

दर्शन और आचारशास्त्र का बहुत बड़ा विस्तार है । इसमें कौन कहां से पार पायेगा ? आचार्य ने कहा— आश्रव है संसार का हेतु और संवर है मोक्ष का हेतु । शेष सब प्रपंच है, विस्तार है । मोक्ष मार्ग के सिवाय इस संसार में कोई हितोपदेश नहीं है— नर्ते च मोक्षमार्गाद् हितोपदेशोक्ति जगति कृत्सनेऽस्मिन् ।

जीवन में अनेक उलझनें आती हैं, उनकी गहराई तक जाना बड़ा कठिन होता है। बाहर से उनका कुछ अर्थ निकलता है और भीतर जाएं तो अर्थ बदल जाता है।

जोधपुर नरेश को एक बार धन की आवश्यकता हुई। खजाने में रखा पूर्वजों का एक लेख मिला। उसमें लिखा था— जब कभी धन की जरूरत पड़े तो मकराना और खाटू के बीच में धन गड़ा है, उसे निकाल लेना। पत्र पढ़ कर राजा को प्रसन्नता हुई, किन्तु साथ-साथ समस्या भी प्रस्तुत हो गई। मकराना और खाटू के बीच लगभग तीस किलोमीटर की दूरी है। कहां-कहां खुदाई करें। अन्ततः प्रधान दीवान को बुलाया। उसके सामने समस्या रखी— खजाने का पता तो चल गया, किन्तु अब वह मिले कैसे? पूर्वजों का लेख पढ़ाया गया। दीवान हंसराजजी सिंघी ने बहुत सोचा, किन्तु बात समझ में नहीं आई। उन्होंने सुझाव दिया— मेरा एक दामाद है जसवंतसिंह। वह महाराज बीकानेर का दीवान है। उसकी बड़ी सूक्ष्म मेधा है। हमें विश्वास है कि वह इस सूत्र की व्याख्या कर देगा। आप उसे बुलाएं। जोधपुर नरेश ने उसे ससम्मान बुलाया। जसवंतसिंह जी ने आलेख देखा, सोचा— लिखने वाला राजा बुद्धिमान् है। क्या वह तीस किलोमीटर की एरिया को खोदने की बात लिखेगा? कोई न कोई रहस्य है। दीवान ने राजा से पूरा महल देखने की इच्छा व्यक्त की। राजा ने आज्ञा दे दी। दीवान ने पूरे महल को देखा और फिर राज्यसभा को देखा। महाराजा के सिंहासन को दीवान ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा। देखते ही बात समझ में आ गई। सिंहासन के एक ओर मकराने का संगमरभर लगा हुआ था, दूसरी ओर खाटू का पत्थर। उसने कहा— 'महाराज ! सिंहासन को हटा कर इन पत्थरों के बीच खुदाई कराएं।' खुदाई हुई और विशाल खजाना हाथ में आ गया।

आकर्षण है प्रेय के प्रति

सूक्ष्मता में गए बिना श्रेय और प्रेय को नहीं जाना जा सकता और इसे जाने बिना धर्म की बात बिल्कुल अधूरी रह जाती है। उपनिषदों में प्रेय और

श्रेय का बहुत सुन्दर विवेचन किया गया है। कहा गया— प्रेय वह नौका है, जो बीच में डुबो देती है। श्रेय पार पहुंचाने वाली नौका है। श्रेय है बंधनमुक्ति का मार्ग। जब यह श्रेय की बुद्धि जागती है, सारा चिंतन बदल जाता है। बहुत सारे लोग इस श्रेय के मार्ग को नहीं पकड़ पाते। प्रियोपदेश को तो पकड़ लेते हैं, किन्तु हितोपदेश को नहीं पकड़ पाते। प्रियता के प्रति हमारा यह आकर्षण जन्मजात है। पदार्थ के लिए मनुष्य सब कुछ कर सकता है, जहां प्रेय का आकर्षण है, वहां संग्रह की बात आएगी। जहां श्रेय का मार्ग सामने होगा, वहां आदमी अकिंचन बनने की बात सोचेगा, 'मुझे और कुछ नहीं चाहिए' इस स्थिति में आएगा।

हितोपदेश्य कौन ?

प्रिय का उपदेश देने वाला प्रियता का मार्ग समझा सकता है, हित का मार्ग नहीं समझा सकता। हित का उपदेश देने वाला दोनों मार्ग समझा सकता है। उसे दोनों का अन्तर ज्ञात है। एक अध्यापक कक्षा में गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि पढ़ाता है, उसकी शिक्षा देता है, किन्तु उसे हितोपदेश्य नहीं माना जा सकता। उसकी शिक्षा आजीविका के लिए है। विद्यार्थी भी पढ़ता इसलिए है कि आगे चल कर वह अच्छी आजीविका का साधन जुटा सके। उसमें हित का ध्यान नहीं होता। यदि हित का दृष्टिकोण होता तो पढ़ाई के साथ यह भी बताया जाता कि तुम्हें अपना जीवन कैसे बनाना है ? चरित्र-निपुण कैसे बनना है ? सबसे बड़ी शिक्षा है चरित्र की शिक्षा। वह नहीं दी जाती।

कौन सुनता है हितोपदेश ?

हितोपदेश्य वह हो सकता है, जो स्वयं आत्मज्ञ बन गया, जिसने राग-द्वेष को कम कर लिया, वीतराग बन गया या वह हितोपदेश्य हो सकता है, जो वीतरागता की यात्रा पर निकल पड़ा है। हितोपदेश का अनुसरण भी वही कर सकता है, जिसका कर्मबंधन प्रगाढ़ नहीं है। जिस व्यक्ति के कर्म का बंधन बहुत सघन होता है, उसे हितोपदेश की बात अच्छी नहीं लगती।

महावीर की सभा में एक व्यक्ति गया । समवसरण के दरवाजे पर पहुँच कर भी वह भीतर प्रवेश नहीं कर सका, वहाँ से भाग खड़ा हुआ । हितोपदेश को सुनने की योग्यता उसी में हो सकती है, जिसमें बंधन की स्थिति थोड़ी कमजोर हुई है । जिसके राग-द्वेष थोड़े मन्द हुए हैं, उसके मन में हितोपदेश सुनने की बात आती है । वह हितोपदेश है वीतरागता की चर्चा । उसे सुन कर सदा प्रियता और अप्रियता में रहने वाला व्यक्ति एक नये प्रकाश का अनुभव करता है । उस हितोपदेश के नव प्रकाश से उसका जीवन और चिंतन आलोक से जगमगा उठता है ।

मंगल मंत्र

उपासना का महत्त्व

‘सत्त्व-विस्मृत सिंह शिशु को सिंह का दर्शन मिला,
चिर समाधि-विलीन योगीराज का आसन हिला ।
कौन कहता है अरे ईश्वर मिलेगा साधना से,
वह स्वयं मैं, मैं स्वयं वह, भावमय आराधना से ॥

एक सिंह-शावक को चरवाहे ने उठा लिया । बकरियों और भेड़ों के साथ वह पलने लगा । उसने बकरी और भेड़ का अनुकरण करना शुरू कर दिया, वह भेड़ और बकरी बन गया । अपने स्वत्व और सत्त्व को भूल गया । भेड़ बकरियों के साथ खेलना-कूदना, खाना और पीना—जीवन चर्या बन गई । एक दिन ऐसा योग मिला—चरवाहा जंगल में भेड़ बकरियों को चरा रहा था । अकस्मात् सिंह आ गया । चरवाहा पेड़ पर चढ़ गया । भेड़ बकरियां भागने लगीं । वह सिंह शावक भी दौड़ पड़ा । सिंह ने गर्जना की । वह जोर से दहाड़ा । उसने हत्थल उठाई और दो-चार बकरियों का काम तमाम कर दिया । सिंह शावक ने यह सब देखा । उसके मन में एक नई चेतना और नई स्फुरणा जगी— अरे ! यह तो मैं भी कर सकता हूं । मैं दहाड़ भी सकता हूं और हत्थल भी उठा सकता हूं ।

विस्मृत है स्वत्व

सिंह का दर्शन मिला और सिंह शावक, जो अपने सत्त्व को भुला बैठा था, जाग उठा । वह बकरियों का साथी नहीं रहा, सिंह के साथ हो गया । सिंह-शावक का सिंहत्व प्रबुद्ध बन गया । आज यही दशा मनुष्य की हो रही

है । वह अपने स्वत्व को भूले हुए है । जैसे एक सिंह का बच्चा बकरियों और भेड़ों के साथ जीवन बिता रहा है, वैसे ही एक आत्मा और चेतना का वलय इन पुद्गलों के साथ जी रहा है, पौद्गलिक पदार्थों के साथ जीवन बिता रहा है । कभी किसी सिंह का योग मिलता है, किसी आत्मज्ञ का योग मिलता है, तब उसे स्मृति होती है—अरे ! मैं पुद्गल नहीं हूँ, मैं जड़ नहीं हूँ । मैं आत्मा हूँ, चेतनामय और विशुद्ध हूँ । मैं कहां फंस गया ? व्यक्ति को एक साथ अपने स्वरूप की स्मृति हो आती है और वह अपने आपको पहचान लेता है ।

उपासना का परिणाम

उपासना का या परमात्मा की उपस्थिति का पहला परिणाम है— अपनी पहचान । व्यक्ति अपने को जान लेता है कि मैं क्या हूँ ? इस पहचान का परिणाम है स्मृति । उस परम आत्मा की स्मृति हो जाती है । जब तक वह अपरम में रहता है, परम को कभी देख नहीं लेता, परम की उपस्थिति का कभी अनुभव नहीं कर लेता, तब तक वह अपरम ही बना रहता है । जो व्यक्ति एक बार परम की सन्निधि में चला जाता है, उसे परम की स्मृति होने लग जाती है ।

उपासना का दूसरा तत्त्व है—गुणों का विकास । जब परम की स्मृति होती है, गुणों का विकास होने लग जाता है ।

उपासना का तीसरा तत्त्व है—परिष्कार । जैसे-जैसे गुण विकसित होते हैं, व्यक्ति की वृत्तियों का परिष्कार होता चला जाता है ।

उपासना का चौथा तत्त्व है—समाधि । उपासना करने वाला व्यक्ति समाधि को प्राप्त हो जाता है । वह असमाधि में नहीं रहता, उसकी समस्याएं सुलझ जाती हैं ।

अपनी पहचान, गुणों का विकास, परिष्कार और समाधि—ये उपासना के चार परिणाम हैं—

आत्मबोधो विकासश्च, गुणानां जायते यतः ।
परिष्कारः समाधिश्च, सा नामोपासना भवेत् ॥

भगवान् महावीर ने उपासना को बहुत मूल्य दिया । महावीर ने एक श्रावक गृहस्थ का नाम रखा—श्रमणोपासक, श्रमण की उपासना करने वाला, श्रमणों के पास बैठने वाला । श्रमण की उपासना के अनेक परिणाम बतलाए हैं । उससे विनय का विकास होता है, दुर्गति का अवरोध होता है, सुगति का मार्ग प्रशस्त होता है । जो श्रावक धर्म का श्रवण करता है, उसमें ज्ञान विज्ञान और प्रत्याख्यान की चेतना जाग जाती है । धर्म श्रवण का अनुत्तर फल है मोक्ष । कितना महत्त्व है श्रमणोपासना और धर्म-श्रवण का ।

प्रश्न भावचेतना की तृप्ति का

भक्तिवादी विद्वानों ने एक प्रश्न उपस्थित किया—जैन-धर्म वैज्ञानिक धर्म है, यथार्थवादी धर्म है । जो धर्म वैज्ञानिक और यथार्थवादी होता है, वह भावचेतना को तृप्त नहीं कर पाता । भक्तिमार्ग भावचेतना को तृप्ति देने वाला मार्ग है । एक भक्त अपने भगवान् की पूजा करता है तब वह इतना भाव-विभोर हो जाता है कि सब कुछ समर्पण कर देता है किन्तु एक वैज्ञानिक धर्म में यह बात नहीं हो सकती । वहां केवल यथार्थवाद है, न भक्ति, न श्रद्धा और न समर्पण । भावचेतना को तृप्त करने का कोई साधन नहीं है । केवल बौद्धिक चेतना को आयाम देने के साधन बहुत हैं ।

यह प्रश्न अहेतुक भी नहीं है । हम स्वीकार करें—जैनधर्म वैज्ञानिक और यथार्थवादी धर्म है । आचार्य ने कहा—भगवान् ! आप यथार्थवादी हैं इसलिए कोई नई बात नहीं बता सकते । नई बात वह बता सकता है, जो अयथार्थ में चलता है । ऐसे भी दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने घोड़े के सींग उगाए हैं । आप कभी घोड़े के सींग नहीं उगा सकते ।

यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश, न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि ।

तुंगशृंगाण्युपपादयद्भ्यो, नमः परेभ्यो नवपण्डिलेभ्यः ॥

भक्तिवाद में जो विशेषता है वह यथार्थवाद में नहीं हो सकती, यह सही है किन्तु लोग इस बात को भूल जाते हैं कि जैन धर्म एकान्तवादी धर्म नहीं है । वह अनेकांतवाद को मानने वाला धर्म है । जहां अनेकांतवाद

है, वहां सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक् चारित्र्य— तीनों की युति है । जहां सम्यक्ज्ञान का प्रश्न है, वहां ज्ञान मीमांसा और तत्त्व मीमांसा यर्थाथवाद की परिक्रमा करती है । किन्तु जहां श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान का प्रश्न है, वहां भक्तिवाद उपादेय है । जैन दर्शन भक्ति को भी स्वीकार करता है । उसे सर्वथा अस्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं है । जैन कवियों ने सिद्ध की प्रार्थना की है, आत्म निवेदन किया है, स्तुति और स्तवन किया है । प्रश्न हो सकता है— यह सब क्यों किया ? इसलिए किया है कि भक्तिवाद भी स्वीकृत है, उसका भी मूल्य है ।

निर्वर्तक कर्तृत्व : निमित्त कर्तृत्व

एक विशेषता अवश्य रहेगी । भक्तिवाद का पथिक ईश्वर की प्रार्थना करता है । उसका ईश्वर कर्ता है, उसमें कर्तृत्व है । जब भक्त पर संकट आता है तब वह उसे बचाने के लिए दौड़कर आ जाता है । जैनधर्म का परमात्मा न कर्ता है और न ही वह किसी भक्त को बचाने के लिए दौड़कर आता है । यह एक बहुत बड़ा अंतर है । सहज प्रश्न उभरता है— जब भगवान् या परमात्मा संकट में हमारी रक्षा नहीं करता, हमें बचाने नहीं आता तब हम उस भगवान् की अर्चना क्यों करें ? वंदना और स्तवन क्यों करें ? कहा गया—कर्तृत्व दो प्रकार का होता है—निर्वर्तक कर्तृत्व और निमित्त कर्तृत्व । यह तर्क शास्त्र की भाषा है । कुम्हार घड़े बनाता है, वह निर्वर्तक कर्तृत्व है । उसे बनाने की जो साधन-सामग्री है, वह निमित्त है । जैन-दर्शन का परमात्मा सर्वथा उदासीन नहीं है । वह हमारा निमित्त कर्तृत्व बनता है । इतना ही नहीं, जैनदर्शन का परमात्मा अपने भक्त को अपने समान बना देता है । जयाचार्य ने लिखा—‘पारस तू प्रभु साचो पारस आप समो कर देवे’ । यह परमात्मा का कर्तृत्व है कि वह भक्त को अपने तुल्य कर देता है । जो परमात्मा अपने भक्त को अपने समान नहीं बनाता, वैसा भगवान् हमें नहीं चाहिए । जैन दर्शन ने उस भगवान् को मान्यता दी, जो अपने भक्त को भक्त नहीं रखता, किन्तु उसे भगवान् बना देता है । क्या यह कम महत्त्व की बात है ? क्या हम इसका कम मूल्यांकन करें ?

विधि परमात्मा बनने की

वस्तुतः यह बहुत महत्त्व की बात है। प्रश्न यह है— परमात्मा बनने की विधि क्या है ? उपासना की प्रक्रिया क्या है ? उपासना का मतलब है उपस्थिति का अनुभव करना। यह अनुभव करना कि परमात्मा मेरे सामने उपस्थित है। उसके सान्निध्य में बैठना, निकट बैठना या उसे अपने भीतर बिठा लेना। दूसरा तत्त्व है स्मृति। सतत स्मृति उपासना का ही दूसरा रूप है। केवल उसी की याद रहे और किसी की नहीं। तीसरा तत्त्व है— तादात्म्य। “वह मैं हूँ और मैं वह है”—इस तादात्म्य की अनुभूति हो जाए।

स्मरण और तादात्म्य की स्थिति तब सम्भव बनती है जब जीवन में एक मोड़ आता है। जब व्यक्ति के मन में यह तड़प जाग जाती है, एक असंतोष और बेचैनी जागती है प्रभु से मिलने की, तब वह परमात्मा की सतत स्मृति में डूब जाता है। उसके मन की बेचैनी ही परमात्मा के साथ तदात्म होने की प्रेरणा बन जाती है। उसके मन में यह भावना उदग्र बनती है—वह मैं हूँ, मैं वह है। इस स्थिति में उपास्य और उपासक के बीच तार जुड़ जाता है। उपासना करने वाले के मन में यह बेचैनी प्रबल बन जाती है—मेरा परमात्मा मुझसे कभी अलग न हो जाए। जब यह बेचैनी चरम बिन्दु पर पहुंचती है, उपास्य स्वयं उपासक बन जाता है, स्वयं तद्रूप बन जाता है। वह स्वयं अपना नियंता बन जाता है। उपासना फलित और उपास्य कृतार्थ हो जाता है।

ध्यान के दो प्रकार

ध्यान दो प्रकार के होते हैं—भेद प्रणिधान और अभेद प्रणिधान। जब व्यक्ति उपासना प्रारम्भ करता है तब वह भेद प्रणिधान की स्थिति में होता है। उस समय एक उपास्य होता है और एक उपासक। जैसे-जैसे उपासना बढ़ती है, तादात्म्य का विकास होता है, द्वैत समाप्त होता चला जाता है और एक क्षण ऐसा आता है कि अद्वैत घटित हो जाता है। उपास्य, उपासना और उपासक का भेद मिट जाता है। एक प्राचीन ग्रंथ में कहा गया—परमात्मा क्या है। जब परम के ध्यान में लीन भक्त परम की गहराई में चला जाता है, तब सारे विकल्प समाप्त हो जाते हैं। भेद का विकल्प भी शेष नहीं रहता

है। उस अवस्था में आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाती है। इस योग की प्रक्रिया को हम देखते हैं तब उपासना का मूल्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञान, भक्ति और कर्म

वस्तुतः उपासना के बिना तादात्म्य की स्थिति नहीं आती। ज्ञान ज्ञान के स्थान पर है। यथार्थ ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। हम उससे जान लेते हैं पर बदलने बात उससे प्राप्त नहीं होती। बदलने के लिए उपासना का आलम्बन जरूरी है, भक्तिमार्ग आवश्यक है। भक्ति के बिना सम्बन्ध जुड़ता नहीं है, तादात्म्य सम्भव बनता नहीं है। जब दो चीजों को मिलाना है, तब उपासना करनी होती है। दूध को चीनी में मिलाना है, तो दोनों में उपासना होगी। दूध चीनी के साथ जाएगा या चीनी दूध के साथ जाएगी।

जहां यह संबंध स्थापित नहीं होता, वहां दूध जैसा है, वैसा ही रह जाता है। ज्ञान का काम है—जो जैसा है, उसे वैसा जानना, यथार्थ का निरूपण करना। इसलिए जैन दर्शन में यह स्वीकार किया गया—कोरा ज्ञान अधूरा है। अनेकांत में कोई पूर्ण होता ही नहीं है। ज्ञान का सार है आचार। जब तक आचार नहीं होगा, ज्ञान का सार नहीं निकलेगा। कोरा दूध दूध है। जब तक दूध को बिलोया नहीं जाएगा, मथा नहीं जाएगा, तब तक नवनीत नहीं निकलेगा। जहां सार को प्राप्त करना है, वहां ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग—दोनों सम्मिलित हो जाते हैं।

जैनधर्म में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का समन्वय है। ज्ञान, भक्ति और कर्म—तीनों जुड़े हुए हैं। यदि उपासना का महत्त्व नहीं होता तो श्रद्धा, भक्ति और सम्यक्-दर्शन को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता। उसे मोक्ष के साधक तत्व के रूप में स्वीकृत किया गया है। प्रश्न हो सकता है—श्रमण और गुरु की उपासना का अर्थ क्या है? कहा गया—श्रमण की उपासना सम की उपासना है, समानता की उपासना है, तपस्या की उपासना है। जो व्यक्ति समता, समानता और तपस्या की उपासना करता है, वह स्वयं समतामय, समानतामय, तपस्यामय बन जाता है। उसकी जीवन नौका कभी समुद्र के बीच में नहीं रहती, तट के उस पार पहुंच जाती है।

मंगल सूत्र

आज मेरे हाथ में 'श्रमणसूत्र' की पुस्तक है। यह एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। यह भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर समग्र जैन समाज के द्वारा मान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के संकलन में हमारे संघ का बहुत बड़ा हाथ है। जिनेन्द्रवर्णी ने इसका प्रारम्भ किया और इसकी सम्पन्नता गुरुदेव तुलसी के निर्देशानुसार मेरे द्वारा हुई। एक संगीति हुई। उस संगीति में यह ग्रन्थ सबके द्वारा मान्य हुआ और आज यह जैन धर्म का सर्व-सम्मत ग्रन्थ है।

विनोबाजी की भावना थी कि जैसे वैदिकों में गीता तथा बौद्धों में धम्मपद है, वैसे ही जैनों में भी एक ग्रन्थ होना चाहिए, जो सर्व-सम्मत हो। उस अवसर पर यह भावना पूरी हुई। एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य हुआ। अभी राधाकृष्ण बजाज आए, उन्होंने कहा— 'समणसुत्त' कई विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत हो चुका है। जिनवाणी का सार इस ग्रंथ में संग्रहीत है।

आवश्यक है विवेक

यतिभोज का यह श्लोक जिनवाणी के विषय में बहुत मार्मिक है—

'एकाप्यनाद्याऽखिलतत्त्वरूपा, जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।

तत्राप्यसत्यं त्यज सत्यमङ्गीकुरु स्वयं स्वीयहिताभिलाषी ॥'

जिनवाणी एक है। वह सब तत्त्वों का निरूपण करने वाली अनादि वाणी है, फिर भी उसका इतना विस्तार हो गया कि उसमें बहुत सारी बातें मिल गईं। गंगोत्री का निर्मल जल जहां से प्रवाहित होता है, बहुत साफ-

स्वच्छ होता है, किन्तु विस्तार के साथ साथ उसमें बहुत सारी बातें मिल जाती हैं। वह विस्तार के साथ उतना निर्मल नहीं रह सकता। आदमी विस्तार चाहता है, किन्तु इस सचाई को हम अस्वीकार न करें कि विस्तार के साथ-साथ कुछ दूषित तत्त्व भी साथ में मिलते हैं। हर बात में ऐसा होता है, जिनवाणी में भी ऐसा हुआ है। उसमें बहुत सारे तत्त्व मिल गए। अब हमें विवेक की आवश्यकता होगी। विवेक करें। जहां भी कोई दोष आ जाता है, वहां विवेक करना जरूरी होता है। जल फिल्टर किया जाता है, यह विवेक है। विवेक का अर्थ है— जो दो हैं, उनको अलग-अलग कर देना। 'विवेकः पृथगात्मता'— अलग-अलग कर देना, इसका नाम है विवेक। प्राचीन काल में कहा जाता था कि हंस में विवेक-शक्ति होती है। वह दूध और पानी को अलग कर देता है। केवल हंस ही नहीं, नींबू भी यह काम कर सकता है और मछली भी कर सकती है। संस्कृत-साहित्य में एक प्रसंग आता है—

**मत्स्यादयोऽपि जानन्ति, क्षीरनीरविवेचनम् ।
प्रसिद्धिरत्र हंसस्य, यशः पुण्यैरवाप्यते ॥**

यह क्षीर नीर का विवेक हंस ही नहीं करता, मछली भी करती है, किन्तु प्रसिद्धि है हंस की। क्योंकि यश तो भाग्य से ही मिलता है। इसी सन्दर्भ में एक दूसरा श्लोक है।

**मासे मासे समा ज्योत्स्ना, पक्षयोरुभयोरपि ।
एकः कृष्णः परः शुक्लः, यशः पुण्यैरवाप्यते ॥**

चांद की चांदनी कृष्ण पक्ष में भी होती है और शुक्ल पक्ष में भी होती है। दोनों पक्षों में चांदनी बराबर होती है। फिर एक का नाम कृष्ण पक्ष और एक का नाम शुक्ल पक्ष क्यों? कोई तार्किक कारण मैं नहीं दे सकता, किन्तु यश भाग्य से ही मिलता है। यश मिला, शुक्ल पक्ष बन गया। दूसरे को यश नहीं मिला, कृष्ण पक्ष बन गया।

मूल को खोजें

हम ऐसा विवेक करें, अपनी विवेक-शक्ति को जगाएं, असत्य को छोड़ें

दें और सत्य को स्वीकार करें। जिनवाणी में जो कुछ बाद में मिल गया, उसे छोड़ दें और जो मूल है, उसे स्वीकार करें। आज के रिसर्च करने वाले विद्वानों में एक अच्छी प्रवृत्ति का जन्म हुआ है। वे किसी भी ग्रन्थ को एकदम प्रामाणिक नहीं मानते। वे इस बात का विश्लेषण करते हैं, विवेक करते हैं कि पुराना अंश कितना है और नया अंश कितना है। मौलिक कितना है और बाद में कितना जुड़ा है। काल के प्रवाह में ऐसा हुआ है कि किसी भी ग्रन्थ को मूल ग्रन्थ कहना बड़ा कठिन हो गया। एक श्रद्धालु आदमी के लिए तो अलग बात है। वह तो श्रद्धा से स्वीकार करता है किन्तु अनुसंधान करने वाले व्यक्ति के लिए यह बहुत कठिन है कि किसी ग्रंथ को पूर्णतः मौलिक मान ले।

जैन आगमों के विषय में जर्मन विद्वानों ने एक प्रयत्न किया। कुछ मानदण्ड निश्चित किए और पूरा विश्लेषण किया कि आगमों में प्राचीन पाठ कितना है और बाद में कितना जोड़ा गया है। उन्होंने अपनी निश्चित पद्धतियां स्थापित की हैं। महाभारत के श्लोक लाख माने जाते हैं, किन्तु प्रारम्भ में उसका नाम था 'जय'। तब उसमें आठ हजार श्लोक थे। फिर १२००० श्लोक बने और उसका नाम हो गया भारत। आज हो गया महाभारत। जुड़ते-जुड़ते, प्रवाह मिलते-मिलते आठ हजार और इक्कीस हजार श्लोक के आज एक लाख से ज्यादा श्लोक बन गए। सब ग्रन्थों में लगभग ऐसा हुआ है। आज विवेक करना जरूरी है कि मूल क्या है और बाद में क्या जुड़ा है। आचार्य ने कहा कि जिस व्यक्ति में सत्य की जिज्ञासा होती है और जो अपनी आत्मा का हित चाहता है, वह व्यक्ति किसी ग्रन्थ के पीछे नहीं जाता, किन्तु उसमें से खोजता है कि मूल क्या है ?

मंगल सूत्र

'श्रमण सूत्र' जिनवाणी का सूत्र है और यह अनेक ग्रन्थों से संकलित है। यह एक कसौटी के साथ संकलित है। इसमें नयदृष्टि से जो सत्य प्रतीत होता है, उसका संकलन है। इसका पहला प्रकरण है— 'मंगल सूत्र'। हम कोई भी कार्य करें तो मंगल के साथ करें। आयोजनों का प्रारम्भ भी मंगल-

गीत से होता है। मंगलाचरण से कार्य शुरू करते हैं, इसीलिए कि हर व्यक्ति सफलता चाहता है। असफलता कोई नहीं चाहता। एक व्यक्ति बीज बोता है तो वह चाहता है कि यह बीज सफल बने यानी उगे।

सफलता तब संभव है, जब कोई बाधा न हो। निर्विघ्न कार्य सम्पन्न हो जाए, तभी सफलता मानी जाती है। किसी भी प्रवृत्ति को प्रारम्भ करते समय मनुष्य यही सोचता है कि यह निर्विघ्न सम्पन्न हो।

मंगल बहुत सारे पदार्थ माने गए हैं। अनेक पदार्थों का चुनाव किया गया, जो मंगलकारी होते हैं। नारियल, दीप, जल और दूध आदि को मंगल माना गया। दधि और अक्षत को मंगल माना गया। इन सब पदार्थों को मंगल मानते हैं, पर क्यों मानते हैं। पदार्थ वही मंगल होता है, जो हमें प्रभावित करता है, हमारे विचार और हमारी चिन्तधारा को प्रभावित करता है। इसका वैज्ञानिक कारण खोजें तो प्रत्येक पदार्थ रश्मिमय होता है। हर पदार्थ में से किरणें निकलती हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं, जिसमें से रश्मियां न निकलती हों। प्रत्येक पदार्थ से तदाकार रश्मियां निकलती हैं और समूचे वायुमंडल में फैल जाती हैं। इसीलिए टेलीविजन में हजार कोस की दूरी का दृश्य आप देख सकते हैं। एक और विकास हो रहा है कि आदमी यहां बैठा है। आदमी चला गया। दो घंटा बाद उसका फोटो लिया जा सकता है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। आदमी चला गया किन्तु उसकी रश्मियां अभी भी वहां मौजूद हैं और उन रश्मियों के द्वारा उसका फोटो लिया जा सकता है। हाईफ्रिक्वेंसी का कैमरा हो तो फोटो लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। बहुत संवेदनशील कैमरा हो तो फोटो लिया जा सकता है।

जैन आगमों में वर्णित है कि जहां पुरुष बैठा हो, वहां अन्तर्मुहूर्त तक साध्वी को नहीं बैठना चाहिए और जहां स्त्री बैठी हो, वहां अन्तर्मुहूर्त तक साधु को नहीं बैठना चाहिए। क्यों? इसलिए कि वह पुरुष तो चला गया, वह स्त्री तो चली गई किन्तु उसके परमाणु अभी भी वहां मौजूद हैं। उस स्त्री के बैठने के स्थान पर यदि पुरुष बैठा है तो बहुत संभव है कि पुरुष में उत्तेजना की भावना जाग जाए। जहां पुरुष बैठा हो वहां यदि साध्वी बैठी है, तो बहुत संभव है साध्वी भी प्रभावित हो जाए उन परमाणुओं से।

हम स्थूल जगत् के नियमों को जानते हैं। स्थूल जगत् के नियमों के अधार पर सारे जीवन को चला रहे हैं। अगर सूक्ष्म जगत् के नियमों को जानने लग जाएं तो सारा संसार इतना विशाल बन जाए कि स्थूल जगत् के नियम उसके सामने व्यर्थ बन जाएं। स्थूल जगत् के नियम सूक्ष्म जगत् में लागू नहीं होते। स्थूल नियमों को हम जानते हैं, इसीलिए स्थूल पदार्थों का हम सबसे पहले चुनाव करते हैं। पदार्थ इसलिए मंगल होते हैं कि उनमें से निकलने वाली रश्मियां हमें प्रभावित करती हैं। उन रश्मियों से हम प्रभावित होते हैं।

अवास्तविक मंगल

पदार्थ का दूसरा लक्षण है— चयापचय धर्म। प्रतिक्षण चय और अपचय होता है। कुछ निकलता है और कुछ जुड़ता है। सूक्ष्म जगत् में यह क्रम तेजी से चल रहा है। हमारे इस शरीर से प्रतिक्षण अनन्त परमाणु निकल रहे हैं और नए परमाणु उसमें आ रहे हैं। यह चमड़ी एक अवरोध है कि बाहर की चीज भीतर में नहीं जा सकती। पानी की बूंद शरीर पर गिरी कि चमड़ी उसे रोक लेगी, वह भीतर नहीं जाने पाएगी। बाहर ही रह जाएगी, बाहर ही सूख जाएगी किन्तु यह तो स्थूल पदार्थ के लिए अवरोध है। चमड़ी में से कितनी सूक्ष्म रश्मियां निकलती हैं, आर पार जाती हैं। कोई बाधा नहीं है। भीत, किवाड़, दरवाजे— सारे के सारे स्थूल जगत् के तत्वों को रोकने वाले हैं। परमाणु के लिए भीत का कोई अर्थ नहीं है। पदार्थ की ये दो विशेषताएं हैं— रश्मिवत् होना और चयापचय धर्म वाला होना। रश्मियां जो निकलती हैं, वे हमें प्रभावित करती हैं और निश्चय हम उनसे प्रभावित हो जाते हैं। बहुत सारे पदार्थ ऐसे हैं, जिनमें से अच्छी रश्मियां निकलती हैं और अच्छा प्रभाव डालती हैं। इसलिए पदार्थ को हमने मंगल माना। पर हर पदार्थ, हर स्थिति में मंगल करते हैं। इस पर आगम शास्त्र में बहुत गंभीर चिन्तन किया गया, फिर निर्णय दिया गया कि वे मंगल हैं पर इनको वास्तविक मंगल नहीं मानना चाहिए। ये द्रव्य मंगल हैं, भाव मंगल नहीं। द्रव्य का अर्थ है— अवास्तविक और भाव का अर्थ है—वास्तविक, पारमार्थिक। ये

पारमार्थिक मंगल नहीं हैं। ये मंगल हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। इसको तर्क की भाषा में कहते हैं—अनेकान्तिकता, ऐकान्तिकता नहीं। अन्त तक मंगल हो, यह कोई जरूरी बात नहीं। आत्यन्तिकता और अनेकान्तिकता, ये दोष माने जाते हैं। एक व्यक्ति के लिए दीप मंगल बन सकता है, दूसरे के लिए नहीं भी बन सकता। एक व्यक्ति के लिए नारियल, अक्षत, दही, दूध—ये सारे पदार्थ मंगल बन सकते हैं और दूसरे के लिए नहीं भी बन सकते। इसलिए ये वास्तविक मंगल नहीं हैं। इनमें मंगलकारक तत्त्व मौजूद हैं, फिर भी ये आत्यन्तिक और ऐकान्तिक नहीं हैं। इसलिए निश्चित रूप से हम नहीं कह सकते कि ये मंगल ही हैं।

वास्तविक मंगल

ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र और शकुनशास्त्र — ये तीनों भारत की बहुत प्राचीन विद्याएं रही हैं। ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र और शकुनशास्त्र—तीनों में इन पदार्थों के मंगलों का बहुत बड़ा विवेचन है किन्तु अध्यात्मशास्त्र में मंगल उसी को मानना चाहिए, जिसमें निश्चित ही विघ्न और बाधाओं को मिटाने की क्षमता हो। उसी को वास्तव में मंगल मानना चाहिए और सबको औपचारिक मंगल मानना चाहिए। अस्वीकार नहीं किया कि पदार्थ मंगल नहीं होते किन्तु सर्वथा स्वीकार भी नहीं किया। उन्होंने परममंगल पर विचार किया और परममंगल वह होता है, जो निश्चित रूप से मंगल होता है, हर व्यक्ति के लिए होता है, हर काल और हर देश में होता है। वह वास्तविक मंगल होता है। प्रश्न होगा—वह क्या है? पहला मंगल सूत्र है—**णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सच्च साहूणं**। अर्हत् मंगल है, सिद्ध मंगल है, आचार्य मंगल है, उपाध्याय मंगल है, साधु मंगल है। ये पांच मंगल हैं। क्यों माना गया इनको मंगल? क्या कारण है कि इन्हें मंगल माना जाए? कारण यह है कि ये सब आत्मा हैं। आत्मा सबसे बड़ा मंगल है। चैतन्य सबसे बड़ा मंगल है। आनन्द और शक्ति सबसे बड़ा मंगल है। आत्मा के तीन लक्षण हैं—अनन्त चैतन्य, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति। ये सबसे बड़े मंगल हैं। चेतना में कभी अमंगल नहीं होता। आनन्द और शक्ति में कभी अमंगल नहीं होता।

मन को वश में करें

सबसे बड़ा मंगल होता है—आत्म-तत्त्व । मन, वचन और काय—ये जब वश में हो जाते हैं तो मंगल बन जाते हैं और वश में नहीं होते हैं तो ये अमंगल बन जाते हैं ।

एक व्यक्ति गुरु के पास गया और बोला, 'गुरुदेव ! कोई ऐसा मंत्र बताएं, जिससे देवता भी मेरे वश में हो जाएं ।'

'तुम्हारे नौकर-चाकर तुम्हारे वश में हैं ?'

'नहीं ।'

'तुम्हारा परिवार तुम्हारे वश में है ?'

'नहीं ।'

'अरे भाई ! जब तुम्हारे नौकर-चाकर, तुम्हारा परिवार, तुम्हारी संतानें, पत्नी और यहां तक कि स्वयं तुम्हारा मन तक तुम्हारे वश में नहीं है तो फिर देवता तुम्हारे वश में कैसे होंगे ? सबसे पहले तो अपने मन को वश में करो ।'

त्रिगुप्ति की साधना

देवता को वश में करने से पहले मन को वश में करो, शरीर को वश में करो और वाणी को वश में करो । आप कोई भी साधना करें— चाहे व्यवहार की, चाहे परमार्थ की किन्तु तीन गुप्तियों के बिना कोई वश में नहीं होता । आदमी तीन गुप्तियों की साधना नहीं करता, अपने मन, वचन और शरीर को वश में किए बिना दूसरों को वश में करना चाहता है, किन्तु ऐसा न कभी हुआ है और न कभी होगा । हम सर्वप्रथम अपने शरीर को वश में करें, अपने मन को वश में करें, ये वश में हो जाएंगे तो फिर देवता को साधने की जरूरत नहीं होगी । देवता स्वयं अपने आप प्रकट हो जाएंगे । देवता को क्यों साधें ? उस देवता से बड़ा देवता तो आपके भीतर बैठा हुआ है । वह है— दिव्य आत्मा, दिव्य चेतना । आप अपनी दिव्य चेतना को जगाएं, दूसरे को जगाकर क्या करेंगे ? वे कभी-कभी जगाने वाले की ही बलि ले लेते हैं । उनको न जगाएं ।

उदार दृष्टिकोण

जिसने अपने देवत्व को जगा लिया, अपने आप को वश में कर लिया उसके लिए मंगल का द्वार खुल गया। मंत्र बहुत हैं। हर परम्परा में हैं। वैदिक परम्परा में भी गायत्री जैसा शक्तिशाली मंत्र है। अथर्ववेद का पूरा भाग मंत्रों से भरा है। बौद्ध परम्परा में भी बहुत सारे मंत्र हैं। बौद्धों ने भी मंत्रों का बहुत विकास किया। जैन परम्परा में भी मंत्रों का प्रयोग होता है। तीनों परम्पराओं में मंत्रों का बहुत विकास हुआ, किन्तु नमस्कार महामंत्र एक अनुपम मंत्र है। इसमें किसी का नाम नहीं। न महावीर का नाम है और न किसी अन्य देवता का। किसी की अर्चना नहीं, किसी की पूजा नहीं। केवल आत्म-तत्व की आराधना। अर्हत् जैन परम्परा में भी हो सकता है और अन्य परम्परा में भी। ऐसा नहीं कि जैन परम्परा में ही सिद्ध हों, अन्य परम्पराओं में नहीं। इतना उदार दृष्टिकोण भगवान् महावीर ने दिया कि एक गृहस्थ के वेश में भी सिद्ध हो सकता है और एक साधु के वेश में भी सिद्ध हो सकता है। जैन वेश में भी सिद्ध हो सकता है और अन्य परम्परा के वेश में भी सिद्ध हो सकता है। गृहस्थ के वेश में हमारी परम्परा में सबसे पहले मोक्ष जाने वाली आत्मा है—भगवान् ऋषभ की माता मरुदेवा। वह हाथी पर बैठी थी गृहस्थ के वेश में। उसी समय मोक्ष चली गयी। हमारी परम्परा में भी गृहस्थ के वेश में साधु साध्वी की दीक्षा हुई है। न वेश के साथ कोई आत्मा का विरोध है न हाथी पर चढ़ने के साथ। मूल प्रश्न है—आत्मा की निर्मलता, आत्म-चेतना का जागरण।

‘आत्मा को वश में करना’ – यह वशीकरण सूत्र हमारी समझ में आ जाए तो कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाएगा। सबसे बड़ा वशीकरण सूत्र है—तीन गुणधर्मों की साधना। सबसे बड़ा वशीकरण सूत्र है—प्रेक्षा ध्यान। ये वशीकरण सूत्र हमारी समझ में आ जाएं तो आगे मंगल, पीछे मंगल, सर्वत्र मंगल ही मंगल है।

णमो अरहंताणं

विकास का मूल स्रोत है—जिज्ञासा । एक छोटा बच्चा कोई नई वस्तु को देखता है तो अपनी मां से पूछता है—यह क्या है । वह उसे जानना चाहता है । अज्ञात को ज्ञात करना मनुष्य की सहज वृत्ति रही है । वह प्रत्येक चीज के बारे में जानना चाहता है । चाहे वह काम की हो या न हो, आवश्यक हो या अनावश्यक । इसीलिए कहा गया—ज्ञेय सब कुछ है । हेय और उपादेय की सीमा है । किंतु अज्ञेय कुछ भी नहीं है । हेय भी ज्ञेय है, उपादेय भी ज्ञेय है । मनुष्य इसी दिशा में चल रहा है । इसी का नाम है सत्य की खोज । यह जिज्ञासा या सत्य की खोज मनुष्य का जन्मसिद्ध अथवा मौलिक अधिकार है ।

मैं कौन हूँ

सत्य की खोज के संदर्भ में एक जिज्ञासा यह उभरती है—मैं कौन हूँ ? बच्चा सबसे पहले दूध को जानता है । उसके बाद पानी और रोटी को जानता है, वस्त्र आदि बाह्य पदार्थों को जानता है । जो इन्द्रियों का विषय बनता है, उन सबको जानता चला जाता है । जब चिन्तन आगे बढ़ा, सोचने की शक्ति विकसित हुई, व्यक्ति की दृष्टि अपनी ओर गई । उसके मन में प्रश्न उठा— मैं कौन हूँ ? सत्य की खोज का यह एक महत्त्वपूर्ण अंग है । 'कोऽहं'—इसकी रट अनेक लोगों ने लगाई । अनेक साधकों ने इसे साधना का मुख्य विषय बनाया । इस प्रश्न का उत्तर कौन दे सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर कोई दूसरा नहीं दे सकता, स्वयं को खोजना होता है । व्यक्ति इस प्रश्न का उत्तर तभी दे पाता है, जब वह अर्हत् को जान ले । जो अर्हत् है,

वह मैं हूँ—यह जिस दिन ज्ञात होता है, उसी दिन 'मैं कौन हूँ?'—यह प्रश्न समाहित हो जाता है।

अर्हत् का स्वरूप

अर्हत् का मतलब है—आत्मा। 'मैं कौन हूँ'—इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए अर्हत् के स्वरूप को समझना चाहिए। अर्हत् का स्वरूप है— ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनन्द। जिज्ञासा हो सकती है— मनुष्य में ज्ञान भी है, दर्शन भी है, शक्ति और आनन्द भी है। क्या वह अर्हत् नहीं है? वह अर्हत् हो सकता है पर अभी अर्हत् नहीं है। इसका कारण बहुत सूक्ष्म और स्पष्ट है। अर्हत् में ज्ञान है, अज्ञान बिलकुल नहीं। दर्शन है, अदर्शन नहीं। आंख, भित्ति या आवरण कोई बाधक नहीं है। अर्हत् का आनन्द अबाध है। आनन्द में कोई बाधा या रुकावट नहीं है। एक भी क्षण ऐसा नहीं आता, जिसमें आनन्द न हो, असुख या दुःखानुभूति हो। अर्हत् में अप्रतिहत शक्ति है। शक्ति में कोई अवरोध नहीं है, स्वलन नहीं है, घात-प्रतिघात नहीं है। इसका तात्पर्य है—अर्हत् वह है, जिसका ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति अव्याहत है, असीम है।

द्वन्द्व का जीवन

जो व्यक्ति अर्हत् नहीं है, उसमें ज्ञान है किन्तु साथ में अज्ञान भी है इसीलिए कभी-कभी ज्ञान दब जाता है, अज्ञान उभर कर आ जाता है। कहा जाता है—भूमि नीचे रहती है और आकाश ऊपर रहता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा हो जाता है—आकाश नीचे चला जाता है, धरती ऊपर आ जाती है। सामान्य मनुष्य में ऐसा होता रहता है—ज्ञान नीचे चला जाता है, अज्ञान ऊपर आ जाता है। अज्ञान ज्ञान का ढक्कन बन जाता है। दर्शन है तो अदर्शन भी है। अनध्यवसाय है, संशय और विपर्यय भी होता रहता है। उसमें आनन्द है पर वह निरन्तर नहीं है। वह कभी सुख का अनुभव करता है, कभी दुःख का अनुभव करता है। जिस क्षण सुख का अनुभव करता है, वह सोचता है—मुझसे अधिक सुखी कोई नहीं है। दूसरे ही क्षण ऐसा कोई वज्रपात होता

है, सारा सुख विलीन हो जाता है। वह दुःख में निमग्न हो जाता है। सुख और दुःख का यह चक्र दिन-रात की भांति अनवरत चलता रहता है। कभी सुख और कभी दुःख—इस चक्र का कहीं अन्त नहीं होता। शक्ति है, पर वह खलित होती रहती है। एक दिन पहले व्यक्ति कहता है—मुझमें इतनी शक्ति है कि पांच कोस निरन्तर पैदल चल सकता हूँ। दूसरे दिन वही व्यक्ति जकवाग्रस्त हो जाता है। पहले दिन गर्व से अपनी शक्ति की महिमा बताने वाला अपनी शक्तिहीनता पर आंसू बहाता है। यह शक्ति का खलन और प्रतिघात सामान्य मनुष्य के जीवन में प्रकट होता रहता है।

निर्द्वन्द्व है अर्हत्

ज्ञान और अज्ञान, दर्शन और अदर्शन, सुख और दुःख, शक्ति और अशक्ति—इन द्वन्द्वों में जीता है सामान्य व्यक्ति। अर्हत् वह है, जो इन सब द्वन्द्वों से अतीत है, निर्द्वन्द्व है। जो व्यक्ति द्वन्द्वात्मक जीवन से निर्द्वन्द्व की ओर जाना चाहता है, उसे अर्हत् को समझना होता है। अर्हत् को समझने का अर्थ है—आत्मा को समझना, अपने आपको समझना। जो अर्हत् है, वह मैं हूँ। इसका तात्पर्य है—एक दिन अर्हत् भी मेरे जैसा ही था, द्वन्द्वात्मक जीवन जी रहा था किन्तु आज वह अर्हत् बन गया। जब वह बना है तो हम क्यों नहीं बन सकते हैं। अर्हत् को नमस्कार का अर्थ है—अर्हत् की दिशा में यात्रा का प्रारम्भ, आत्मा से परमात्मा की दिशा में प्रस्थान। अर्हत् एक प्रेरणा है—प्रत्येक व्यक्ति अर्हत् बन सकता है। इस सत्य का बोध और साक्षात्कार है अर्हत्। इसी सचाई की प्रतिध्वनि है **णमो अरहंताणं**। यह अर्हत् के साथ तादात्म्य और समर्पण का संकल्प है। यदि अर्हत् व्यक्ति के सामने नहीं होता तो उसके प्रति समर्पण और तादात्म्य की भावना जागृत नहीं होती, व्यक्ति के मन में अर्हत् की भावना जागृत नहीं होती, व्यक्ति के मन में अर्हत् बनने की प्रेरणा और संकल्प नहीं जागता।

प्रश्न है आदर्श का

प्रत्येक व्यक्ति के सामने एक प्रश्न होता है—मैं कैसा बनना चाहता हूँ ?

मेरा आदर्श क्या है। आदर्श के बिना कोई व्यक्ति विकास नहीं कर सकता। विकास की यात्रा आदर्श की दिशा में चलती है। व्यक्ति किसी आदर्श से जुड़ता है और यात्रा करते-करते एक दिन उसके पास पहुंचने का स्वप्न संजोता है। जैन दर्शन में विश्वास करने वाले व्यक्ति का आदर्श है अर्हत्। उसका लक्ष्य है अर्हत् बनना। इसीलिए व्यक्ति अर्हत् को नमस्कार करता है। जैन दर्शन से यह बोध मिला—आत्मा परमात्मा बनता है। अर्हत् परमात्मा बन गया। मुझे भी परमात्मा बनना है, यह संकल्प आदर्श से जुड़ने पर व्यक्ति के भीतर प्रस्फुटित होता है। जैन दर्शन में परम-आत्मा की पांच कोटियां निर्धारित हैं—

१. अर्हत्
२. सिद्ध
३. आचार्य
४. उपाध्याय
५. मुनि

व्यक्ति का लक्ष्य है पहली कोटि में पहुंचना, अर्हत् बनना। व्यक्ति ने अर्हत् का स्वरूप समझा, आत्मा का स्वरूप समझ में आ गया। मैं कौन हूँ? इस प्रश्न का समाधान मिल गया— 'मैं आत्मा हूँ।'

मैं कहां हूँ ?

एक प्रश्न है— 'मैं कहां हूँ?' इस प्रश्न में आदमी उलझ जाता है व्यक्ति कहां है, इसका निर्णय करना भी कठिन हो जाता है।

एक मनुष्य बहुत भुलक्कड़ था। उसे कुछ भी याद नहीं रहता। मित्र ने सुझाव दिया—तुम ऐसा काम करो, एक डायरी में नोट कर लो—कहां क्या रखा है और कब क्या करना है? मित्र का सुझाव अच्छा लगा। रात को सोते समय सब कुछ नोट कर लिया। सुबह उठा, स्नान आदि से निवृत्त हो, डायरी खोली। उसमें लिखा था—गिलास और चश्मा टेबल पर है, कुर्ता और पेंट अलमारी में हैं। अमुक चीज वहां है, सब कुछ मिलता चला गया। अंत में लिखा था— मैं खाट पर हूँ। उसने देखा—खाट खाली है। वह बड़ा बेचैन

और उदास हो गया। मैं कहां खो गया ? पत्नी ने कहा— अरे ! आप क्या कर रहे हैं ? क्या गुम हो गया ? वह बोला—सब कुछ मिल गया पर मैं नहीं मिला। इस डायरी में लिखा है— मैं खाट पर हूँ किन्तु मैं खाट पर नहीं हूँ। पता नहीं मैं कहां चला गया ? वह इस प्रश्न को सुलझा नहीं सका।

बहुत जटिल है इस प्रश्न का उत्तर पाना कि 'मैं कहां हूँ ?' पहली को सुलझाने के लिए एक मार्ग बतलाया गया—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा—ये तीन स्तर हैं। जिसकी आत्मा सोई हुई है, वह बहिरात्मा है। इस स्तर पर जीने वाले व्यक्ति को यह पता नहीं होता—मैं कहां हूँ। जिसे इस बात का ज्ञान होता है, वह है अंतरात्मा। जागृत आत्मा का नाम है अंतरात्मा। जो आत्मा स्वानुभूति में लग जाती है, वह है परमात्मा। मैं हूँ या नहीं ? मरने के बाद रहूंगा या नहीं ? ये सारे प्रश्न उसके समाहित हो जाते हैं। आत्मा का साक्षात्कार स्पष्ट होने लग जाता है। प्रत्येक व्यक्ति देखे—मैं कहां हूँ ? क्या सोई हुई आत्मा में हूँ ? जागृत आत्मा में हूँ ? अपनी अनुभूति में हूँ ? जब यह स्थिति स्पष्ट होती है, यह चिन्तन उभरता है तब व्यक्ति अंतरात्मा का स्पर्श कर लेता है, परमात्मा की दिशा में यात्रा शुरू हो जाती है। वास्तव में वह इसी अवस्था में पूर्ण भावना के साथ अपने ईश्वर का उच्चारण करता है—**णमो अरहंताणं**। यह स्वर अंतरात्मा की आवाज बन जाता है।

सर्वोच्च प्रमाण

अर्हत् का महत्त्व इसलिए है कि उसके द्वारा अपनी पहचान होती है। अर्हत् को नमस्कार इसलिए है कि वह हमारा आदर्श है। मैं कहा हूँ—इसका स्पष्ट बोध भी अर्हत् की शरण में उपलब्ध हो जाता है। अर्हत् को नमस्कार इसलिए है कि वह अध्यात्म के क्षेत्र में सर्वोच्च प्रमाण है। वह स्वयं है, स्वतः सिद्ध प्रमाण है। मनुष्य के सामने यह प्रश्न रहता है—हम किसे प्रमाण मानें ? किसकी बात को यथार्थ मानें ? अर्हत् प्रमाण क्यों है ? जैन दर्शन में प्रमाण की एक कसौटी बतलाई गई—'जिसका राग, द्वेष और अज्ञान क्षीण हो गया है, वह प्रमाण पुरुष है।' अप्रामाणिता के दो हेतु हैं—राग, द्वेष और अज्ञान।

जिसमें अज्ञान और राग-द्वेष विद्यमान है, वह प्रमाण नहीं बन सकता। प्रमाण वह है, जो वीतराग बन गया, सर्वज्ञ बन गया। अर्हत् का मतलब है वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी। उनके ज्ञान दर्शन पर कोई आवरण नहीं है इसलिए वे प्रमाण हैं।

बहुत कठिन है प्रामाणिक होना। कवि ने तराजू को तौलते हुए देखा। उससे रहा नहीं गया। उसका कवि मानस बोल उठा—

प्रामाणिक पद गही तला, यह तुम करत अन्याय।

उच्च पद देत लघुत्व को, गरिष्ठ नीच पद पाय ॥

हे तुला ! तुम प्रामाणिक पद ग्रहण कर यह अन्याय कर रही हो। यह कैसा न्याय है तुम्हारा ? जो भारी है, उसे नीचे ले जा रही हो और जो हल्का है, वह ऊपर उठा हुआ है। भारी को नीचा पद और लघु को उन्नत पद, यह कैसी प्रामाणिकता है ?

एक व्यक्ति झूठ बोलता है लेकिन वह बात उसी को मानना चाहता है, जो प्रामाणिक हो। प्रमाणभूत बनना बहुत दुष्कर है। एक जैन श्रावक के लिए तीन विशेषण आते हैं। उसमें एक है—प्रमाणभूत होना। श्रावक प्रमाणभूत होता है। जब तक राग, द्वेष और अज्ञान है, तब तक कोई आदमी प्रमाण नहीं बन सकता। एक व्यक्ति राग द्वेष रहित है, पर ज्ञानी नहीं है तो वह भी प्रमाण नहीं बन सकता। प्रमाण की दो कसौटियां हैं—राग-द्वेष का क्षय और अज्ञान का विलय। अर्हत् प्रमाण हैं और इसलिए हैं कि वे राग-द्वेष और अज्ञान को नष्ट कर चुके हैं।

पूर्ण वही है

आचार्य हेमचंद्र ने संकल्प किया—मैं उस व्यक्ति की स्तुति करूंगा, जो अनंत-ज्ञान संपन्न है, अतीतदोष है, जिसका सिद्धान्त अबाध्य है और जिसकी देवता पूजा करते हैं।

अनंतविज्ञानमतीतदोषं, अबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यं।

श्रीवर्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयंभुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥

अबाध्य सिद्धांत का प्रश्न बहुत महत्त्व का है। आचार्य विनोबा ने लिखा—‘मैं बेभरोसे का आदमी हूँ। आज एक बात कहता हूँ और कल मुझे लगता है यह बात ठीक नहीं है, दूसरी बात ठीक है तो मैं उसको स्वीकार कर लूंगा। जो बात पहले स्वीकृत की गई है, उसे छोड़ दूंगा।’ यह नीति बहुत अच्छी है किन्तु इसमें अपूर्णता है, इस सचाई को भी हम स्वीकार करेंगे। अबाध्य सिद्धांत उसी का हो सकता है, जो पूर्ण बन गया। जब तक आदमी पूर्ण नहीं बनता, तब तक यह छोड़ने और स्वीकार करने की बात चलती रहेगी। कभी अच्छी बात आई, स्वीकार कर ली, कभी अच्छी नहीं लगी, छोड़ दी—यह क्रम कब तक चलेगा? नीति गलत नहीं है किन्तु साथ-साथ अपूर्णता का बोध भी हमें होना चाहिए। मैं अपूर्ण हूँ इसलिए सब बातें जान नहीं सकता। एक को जाना और दूसरी उससे अच्छी लगी तो उसे भी स्वीकार कर लिया। मुझे वह भी नहीं बनना है कि लोहे की पोटली बांध ली तो लोहे की पोटली को उठाए चलूंगा फिर चाहे चांदी या सोना आए, माणक या मोती आए। यह पकड़ भी मूर्खता की बात है। एक होता है लोहे वणिक जैसा, जो पकड़ लिया वह पकड़ लिया। दूसरा इस प्रकृति का होता है—मैंने पहले एक को स्वीकारा था, आज उससे अच्छा तत्त्व मिला है इसलिए उसे स्वीकार कर रहा हूँ। यह समझदारी का चिंतन है। मूर्ख हो या समझदार—पूर्ण दोनों नहीं हैं। पूर्णता दोनों में नहीं हो सकती। पूर्ण वही होगा, जो वीतराग और सर्वज्ञ बन गया। उसका ज्ञान अबाध्य होता है, क्योंकि उसके सामने परोक्ष कुछ नहीं होता, सब कुछ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष होता है, हाथ में रखे आँवले की भांति स्पष्ट दिखाई देता है। न संशय, न विपर्यय और न अनध्यवसाय। ज्ञान अबाध्य और निरावरण बन जाता है।

महानता की कसौटियां

कहा गया—अर्हत् की देवता भी सेवा करते हैं। यह कोई जरूरी नहीं है कि जिसमें इतनी विशेषताएं आ गई, उसकी देवता भी सेवा करते हैं। यह कोई कसौटी नहीं है। अनन्तविज्ञान, अतीतदोष, अबाध्य सिद्धांत—ये कसौटियां तो संगत प्रतीत होती हैं। देवता सेवा करे या न करे, अपेक्षा क्या है? आचार्य सामंतभद्र ने लिखा —

देवागमनभोयन, चामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥

प्रभो ! आप इसलिए पूज्य नहीं हैं कि आपके पास देवता आते हैं, आकाश से विमान उतरते हैं । चमर आदि विभूतियां हैं । जो मायावी और ऐंद्रजालिक हैं, वे भी ऐसे दृश्य दिखा सकते हैं । क्या वे भी महान् बन जाएंगे ? आप इसलिए महान् नहीं हैं । जैन दर्शन में महानता की तीन कसौटियां हैं—अनंतज्ञान, अतीतदोष और अबाध्य सिद्धान्त होना । अर्हत् में ये तीनों कसौटियां उपलब्ध होती हैं । इसलिए हम बहुत श्रद्धा के साथ इस तथ्य को स्वीकार करते हैं—अर्हत् होना है और इसी श्रद्धा के साथ इस मंत्र का उच्चारण करते हैं—णमो अरहंताणं ।

णमो सिद्धाणं

आस्तिक और नास्तिक—ये दो शब्द भारतीय चिंतन के क्षेत्र में बहुत प्रचलित हैं। आस्तिक शब्द को बहुत प्रतिष्ठा मिली है। नास्तिक शब्द को बहुत हेय माना गया है। आस्तिक कहने का अर्थ है—किसी व्यक्ति को बहुत ऊंचा उठा देना। नास्तिक कहने का अर्थ है—व्यक्ति को नीचे गिराने का प्रयत्न करना। एक प्रकार से नास्तिक शब्द अवांछनीय तथा गाली जैसा बन गया। इस शब्द को कोई पसन्द नहीं करता। एक समय था— एक दर्शन दूसरे दर्शन को नास्तिक कहने में गौरव का अनुभव करता था। वैदिक दर्शन के कुछ लोगों ने जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन को नास्तिक बतलाया। आधार यह था— जैन और बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते। वे अनीश्वरवादी हैं इसलिए नास्तिक हैं। यद्यपि नास्तिक का यह अर्थ नहीं है। पर इसका एक प्रयोग इस प्रकार किया गया। जो आत्मा, पुनर्जन्म आदि को मानता है, वह आस्तिक होता है। इसके साथ ईश्वर को भी जोड़ दिया जाता है। जैन दर्शन आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी दर्शन है इसलिए उसे नास्तिक कहने का कोई अर्थ नहीं है। आग्रह या पारस्परिक विवाद के कारण जैन और बौद्ध को नास्तिक कहा गया है। किंतु यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि जैन दर्शन अनेकांतवादी है इसलिए वह नास्तिक भी है और आस्तिक भी है।

भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी मनाई जा रही थी। एक पत्रकार ने पूछा—कुछ लोग जैन दर्शन को नास्तिक मानते हैं। इस संदर्भ में आपका क्या विचार है? मैंने कहा— वे लोग जैन दर्शन को नास्तिक ही मानते हैं, किंतु हम महावीर को परम नास्तिक कहते हैं। हमें यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है किंतु जो आस्तिक कहलाने वाले हैं, यदि वे नास्तिक

नहीं हैं तो सही अर्थ में आस्तिक भी नहीं है। आस्तिक और नास्तिक—दोनों होना ही यथार्थ है।

संदर्भ कर्तृत्व का

प्रश्न है—क्या जैन दर्शन ईश्वर को स्वीकार करता है? वह ईश्वरवादी है या अनीश्वरवादी? इस प्रश्न का उत्तर अनेकांतदृष्टि से दिया जा सकता है—जैन-दर्शन ईश्वरवादी भी है और अनीश्वरवादी भी है। ईश्वर की एक परिभाषा की जाती है—‘कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थः ईश्वरः’—जो ईश्वर है, वह सब कुछ करने में समर्थ है। इस परिभाषा के संदर्भ में कहा जा सकता है—जैन दर्शन अनीश्वरवादी है। ईश्वर के साथ जो कर्तृत्व की अवधारणा जुड़ी हुई है, वह जैन-दर्शन सम्मत नहीं है। ईश्वर सृष्टि का कर्ता है, भाग्य का विधाता है, न्यायाधीश है, सबका न्याय करता है, इस परिभाषा को जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता।

सन्दर्भ एकत्व का

कहा गया—ईश्वर एक है, अनेक नहीं हो सकता। सृष्टि की संरचना का संचालन करने वाला ईश्वर अनेक हो जाए तो परस्पर विग्रह की स्थिति पैदा हो जाए। एक ईश्वर कहेगा—सृष्टि का निर्माण इस प्रकार होना चाहिए। दूसरा ईश्वर कहेगा—सृष्टि का निर्माण इस प्रकार होना चाहिए। वैमनस्य, विवाद और विग्रह—ये तीनों स्थितियां बन सकती हैं। संभव है—महायुद्ध भी हो जाए, अणुअस्त्रों का प्रयोग भी हो जाए, वज्र जैसे संहारक अस्त्र का प्रयोग भी हो जाए। इस संभावना के आधार पर ईश्वरवाद के प्रवक्ता ने यह तर्क प्रमाणित किया—ईश्वर एक होना चाहिए। अनेक होने में मतभेद और विवाद की संभावना है। यह तर्क बहुत शक्तिशाली तर्क नहीं है। अनेक इंजीनियर मिलकर एक मॉडल बना लेते हैं, सहमति से काम कर लेते हैं। एक नहर के निर्माण में सैकड़ों इंजिनियर साथ मिलकर काम कर सकते हैं तो क्या दो-चार ईश्वर साथ मिलकर काम नहीं कर सकते? यह एकत्व का तर्क बुद्धिगम्य नहीं होता। जैन दर्शन में ईश्वर एक नहीं, अनेक हैं। एक

के अर्थ में जैन दर्शन ईश्वरवादी नहीं है। यदि अनेक ईश्वर को स्वीकार किया जाए तो जैन दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शन है।

संदर्भ व्यापकत्व का

कर्तृत्व और एकत्व— ये ईश्वरवाद के दो पहलू हैं। तीसरा पहलू है— ईश्वर व्यापक है। वह सब जगह व्याप्त है। कबीर ने लिखा— वह निर्गुण में गुण है और गुण में निर्गुण है। जैन दर्शन इस अर्थ में ईश्वरवादी नहीं है। जैन दर्शन में ईश्वर एक स्थान—मोक्ष में रहने वाला है। कर्तृत्व, एकत्व और व्यापकता ईश्वरवाद के संदर्भ में ये तीन दृष्टिकोण हैं। इनके आधार पर कहा जा सकता है—जैन दर्शन ईश्वरवादी नहीं है।

ईश्वर वह है, जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, अनंत आनंद और अनंत शक्ति संपन्न है। इस परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है—जैन दर्शन ईश्वरवादी है।

जैन दर्शन में ईश्वरवाद का स्वरूप

जैन दर्शन का ईश्वर सृष्टि का कर्ता नहीं है, अनंत है, मोक्ष में रहने वाला है। जितनी आत्माएं अपनी साधना के द्वारा शरीर-मुक्त होकर मोक्ष में जा पहुंचती हैं, वे सब आत्माएं ईश्वर हैं। जीव जगत् के दो विभाग बन गए— शरीरधारी जीवों का जगत् और शरीरमुक्त जीवों का जगत्, केवल आत्मा का जगत्। जो शरीर के जगत् में रहने वाला है, वह शरीर रहित आत्मा की कल्पना भी नहीं कर सकता। निरंजन-निराकार की कल्पना करना सामान्य व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। ईश्वर का जगत् निरंजन-निराकार का जगत् है। एक है ईश्वरीय जगत् और दूसरा है अनीश्वरीय जगत्। मोक्ष का जगत् ईश्वर का जगत् है। वहां ईश्वर ही ईश्वर हैं। कोई शरीरधारी मनुष्य वहां नहीं है। मनुष्य समाप्त हो गया। मनुष्य भी एक अवस्था है, पर्याय है। वह मूल द्रव्य नहीं है। मूल द्रव्य है आत्मा। आत्मा के विभिन्न पर्याय हैं, उनमें एक पर्याय है मनुष्य। जहां पर्याय समाप्त हो गए, व्यक्ति सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया, ईश्वर और परमात्मा हो गया। जो ईश्वर

बन जाता है, वह अपने आपमें अवस्थित हो जाता है। जैन दर्शन में ईश्वरवाद का यह स्वरूप प्रतिष्ठित है।

ईश्वर है सिद्ध

ईश्वरवाद के संदर्भ में एक भेदरेखा खींचना आवश्यक है। एक है नैयायिक-वैशेषिक आदि दर्शन सम्मत ईश्वरवाद और दूसरा है जैन दर्शन सम्मत ईश्वरवाद। जैन दर्शन का ईश्वर अकर्ता, अमूर्त, चैतन्यमय और समदर्शी है। वह न्यायाधीश नहीं है, न किसी के साथ न्याय करता है। न रक्षा करता है और न मारता है। वह केवल ज्ञाता और द्रष्टा है। जो न्यायाधीश है। न्याय करने वाला है, वह इन सब बातों से मुक्त नहीं रह सकता। जैन दर्शन का ईश्वर न्यायाधीश नहीं है, वह इन सारे प्रपंचों से मुक्त है। नमस्कार मंत्र का दूसरा पद है 'णमो सिद्धाणं'। जैन दर्शन में ईश्वर का नाम है सिद्ध। वह सिद्ध हो गया, जिसे सब सिद्धियां प्राप्त हो गई, कोई सिद्धि शेष नहीं रही।

उपासना कैसे करें ?

अर्हत् और सिद्ध— दोनों परमात्मा हैं। हमारे लिए उपास्य है। प्रश्न है—उनकी उपासना कैसे करें? अर्हत् की उपासना की जा सकती है, क्योंकि अर्हत् मनुष्य है और मनुष्य शरीरधारी है। सिद्ध अशरीर है। अशरीर की उपासना कैसे करें। यह प्रश्न स्वाभाविक है। भारतीय साधना पद्धति में दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं— सगुण उपासना और निर्गुण उपासना। जहां मूर्ति का निर्माण होता है; वह सगुण उपासना है। जहां मूर्ति का निर्माण नहीं होता, वह निर्गुण उपासना है। कबीर आदि अनेक संत हुए हैं, जिन्होंने निर्गुण की उपासना की है। सत्त्व, रजस और तमस्— इन तीनों गुणों से जो परे होता है, वह गुणातीत होता है। उसकी उपासना निर्गुण की उपासना है।

ध्यान के चार प्रकार

जैन परम्परा में निर्गुण उपासना के स्थान पर रूपातीत शब्द का प्रयोग

हुआ है । ध्यान के चार प्रकार बतलाए गए—

१. पिण्डस्थ ध्यान ।

२. पदस्थ ध्यान ।

३. रूपस्थ ध्यान ।

४. रूपातीत ध्यान ।

मंत्र का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है । यथा—**णमो अरिहंताणं** इस पद का ध्यान करना ।

शरीर प्रेक्षा करना, आत्म चिंतन करना, शरीर के बारे में चिंतन करना, शरीर पर ध्यान करना, पिण्डस्थ ध्यान है ।

किसी प्रतिबिम्ब या प्रतीक का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है ।

निराकार का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है ।

उपासना की प्रक्रिया

अर्हत् की उपासना का प्रतीक है अर्हम् । इसके द्वारा अर्हत् की उपासना की जाती है । मंत्रशास्त्र में अर्हम् के अनेक प्रयोग बतलाए गए हैं । एक प्रयोग है—अर्हम् के कवच का निर्माण किया जाए । एक प्रक्रिया यह है—नाभि पर ध्यान करें । वहां अर्हत् की स्थापना करें । फिर अर्हम् का मृदु उच्चारण करें और अनुभव करें—नाभि से अरुण रंग में अर्हम् की रश्मियां निकल रही हैं, पूरे शरीर के चारों ओर कवच का निर्माण हो रहा है । एक प्रयोग यह है—ज्ञान केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान और उसके साथ 'अरिहंताणं' का जप । अर्हत् का अनुभव और तादात्म्य का संकल्प । अर्हत् की उपासना की यह एक पद्धति है ।

सिद्ध की उपासना की पद्धति है—रूपातीत ध्यान, सिद्ध के स्वरूप का अनुचिंतन । अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत शक्ति, अनंत आनंद, अजर-अमर, अमूर्त—यह सिद्ध का स्वरूप है । सिद्ध की जितनी सधन विशेषताएं हैं, उन सबकी कल्पना करें । एकाग्रता को सधन बनाएं । निर्विकल्पता की स्थिति घटित हो जाएगी । कल्पना से मुक्त होकर केवल चैतन्य का अनुभव करें । न कोई विचार, न जप, न कल्पना और न शब्द का आलंबन । सारे

आलंबन छूट जाए, केवल चैतन्य का अनुभव चलता रहे। यह निर्विकल्प ध्यान सिद्ध की उपासना-पद्धति है। जब निर्विकल्प ध्यान की स्थिति बनती है, सिद्ध की उपासना शुरू हो जाती है।

बाधक है मन

समस्या यह है— हम मन के साथ जीते हैं। नैतिक जगत में मन के साथ जीना बहुत बड़ा विकास है और आध्यात्मिक जगत् में मन के साथ जीना बड़ी समस्या है। मन बहुत बाधक बनता है अध्यात्म की साधना में। स्मृतियों का तांता लगा रहता है। यह अतीत का भूत हमारा निरंतर पीछा कर रहा है। दूसरा भूत लगा हुआ है या नहीं किंतु यह भूत सबके साथ लगा हुआ है। इस भूत से कैसे छुड़ाएं। जिस दिन भूत छूट जाएगा, एक अलग दुनिया का दर्शन होगा। दूसरी बाधा भविष्य की कल्पना है।

भूत और भविष्य। स्मृति और कल्पना— दोनों से कैसे बचें? उसका उपाय है भाषायंत्र को निष्क्रिय बना देना। जब तक स्वर निष्क्रिय नहीं बनता तब तक भूत और भावी से बचा नहीं जा सकता।

निर्विकल्प ध्यान की पृष्ठभूमि

मन को निष्क्रिय बनाने का एक प्रयोग है कण्ठ का कायोत्सर्ग। दूसरा प्रयोग है—दोनों होठों को बंद करें, दांतों को एक दूसरे के आस-पास सटाएं। भींचें नहीं, जोर भी न लगाएं। केवल स्पर्श मात्र हो। जीभ को तालु की ओर ले जाएं अथवा दांत की जड़ पर, जहां कठोर तालु शुरू होती है, टिका दें। जीभ की चंचलता का अर्थ है मन की चंचलता। भाषा की चंचलता की तरंगें जीभ पर उतरती हैं और वे जीभ को चंचल बनाती हैं। जब तक स्वरयंत्र की सक्रियता और जीभ की चंचलता है तब तक स्मृति और कल्पना से छुटकारा नहीं हो सकता। इनसे मुक्ति तभी संभव है, जब हम स्वर-यंत्र को निष्क्रिय बनाएं, जीभ की स्थिरता साधें। हम खेचरी मुद्रा करें। जीभ को उलट कर तालु की ओर ले जाएं, जीभ को दांतों की जड़ में टिकाएं। जीभ

को दांतों के बीच अधर में रखें। ये सारे जीभ की स्थिरता के प्रयोग हैं। जैसे ही यह स्थिरता सधती है, रूपातीत ध्यान की स्थिति निर्मित हो जाती है। इस अवस्था में हम रूपातीत ध्यान कर सकते हैं। प्रारंभ में आलंबन भी लेना होता है। वह आलंबन हो सकता है 'ओम्' अथवा 'अर्हम्' का। जीभ की स्थिरता की मुद्रा में इसका उच्चारण करें तो उच्चारण अधूरा ही रहेगा। 'ओ' भीतर रहेगा, 'म्' का उच्चारण हो पाएगा। 'अर्ह' अव्यक्त रहेगा, 'म्' सानुनासिक बन जाएगा। इस अवस्था में पाँच-सात मिनट रहें, निर्विकल्प ध्यान में पहुँचने की पृष्ठभूमि तैयार हो जाएगी।

आवश्यक है प्रक्रिया का बोध

रूपातीत ध्यान करने के लिए एक विशेष स्थिति का निर्माण करना होता है। उसके लिए इस समग्र प्रक्रिया को समझना अपेक्षित है। निर्विकल्प होने का अर्थ है केवल चैतन्य के अनुभव में रहना। इस स्थिति में कोई विकल्प नहीं रहता, केवल चैतन्य की स्फुरणा और चैतन्य की किरणें प्रस्फुटित होती हैं। वस्तुतः इस स्थिति का निर्माण करना बहुत कठिन है। यदि हम इस निर्विकल्प स्थिति के निर्माण की प्रक्रिया को समझ लें तो हमारी उपासना अच्छी होगी। हम उपासना की समस्या से परिचित हैं। प्रत्येक व्यक्ति की यह समस्या है—जब-जब उपासना करता है, तब तब 'णमो अरहंताणं' 'णमो सिद्धाणं' का उच्चारण तो होता है किंतु मन दूसरी जगह अटक जाता है। मन का यह अटकाव या भटकाव मिटाने के लिए उपासना की प्रक्रिया का बोध आवश्यक है। श्वास को मंद करने की साधना अशरीर होने की साधना इसीलिए है। यह ठीक कहा गया— 'प्रभु बनकर के ही हम प्रभु की पूजा कर सकते हैं।' अशरीर की उपासना करनी है तो अशरीर होना पड़ेगा। अवाणी की उपासना करनी है तो वाणी को विराम देना होगा, अमन होना होगा। अशरीर, अवाक् और अमन— इस स्थिति का निर्माण हो, तभी रूपातीत ध्यान किया जा सकता है।

रूपस्थ ध्यान

रूपातीत ध्यान से पहले रूपस्थ ध्यान की अपेक्षा है। उसके बिना रूपातीत ध्यान सध नहीं पाएगा। सिद्धों का ध्यान भी रूप के साथ किया जा सकता है। रूपस्थ ध्यान का एक सुन्दर सूत्र मिलता है—

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं दिसंतु ॥

यह सिद्धि की साधना का सूत्र है। जो व्यक्ति सिद्धि चाहता है, अपने आपमें सिद्धि का वरण करना चाहता है। उसके लिए यह उत्कृष्ट सूत्र है।

सिद्ध की उपासना तीन रूपों में करें। पहला रूप है—एक श्वेत निर्मल ज्योति के रूप में सिद्ध की उपासना। उसका स्थल होगा ललाट। अर्द्ध चन्द्र का श्वेत निर्मल ज्योति के रूप में ध्यान। दूसरा रूप है—अरुण रंग में सिद्ध की उपासना। स्थान होगा दर्शन केन्द्र। उगते बाल सूर्य का अरुण रंग। तीसरा रूप है—नीले रंग में सिद्ध की उपासना। स्थान होगा विशुद्धि केन्द्र। समुद्र के जल-सा नीला रंग। इन तीन रूपों में सिद्ध की उपासना की जाती है। प्राचीन मंत्र शास्त्र का अभिमत है—जो अरुण, श्वेत और नील—इन तीन रंगों की उपासना करता है, वह बहुत सारी समस्याओं से पार पा जाता है। यह सिद्ध की साकार उपासना है। इस रूप में उपासना करता हुआ साधक निवेदन करता है—चंद्र के समान निर्मल, सूर्य के समान तेजस्वी और सागर के समान गंभीर— इन तीन रूपों में मुझे सिद्धि दें।

यह सिद्धि का, सफलता का महत्त्वपूर्ण मंत्र है, सिद्ध की उपासना का महान् सूत्र है। जैन परम्परा में 'सिद्धा' बहुत बड़ा मंत्र रहा है। एक मंत्र है—'ॐ णमो सिद्धम्'। इन दोनों की आराधना की जाती है। प्राचीन काल में प्रत्येक पढ़ने वाला विद्यार्थी जब पढ़ाई शुरू करता, तब सबसे पहले 'ॐ णमो सिद्धम्' मंत्र लिखता। केवल जैन ही नहीं, पुराने जितने भी लोग हैं, गुरुजी पढ़ाते समय उन्हें यह मंत्र लिखाते—'ॐ णमो सिद्धम्।' महाराष्ट्र, गुजरात और पूरे दक्षिण में यह मंत्र सर्वत्र व्यापक बना।

सिद्ध के मंत्र की साधना तथा सिद्ध की उपासना, सिद्धि के लिए की

जाती है। केवल 'सिद्धा' मंत्र का प्रयोग अलग-अलग समय में अनेक तरीकों से किया जाता है। सूर्योदय के समय वह अलग प्रकार से और सायंकाल के समय वह अलग प्रकार से होता है। निश्चित शृंखला में भी उसका जप किया जाता है।

योगीन्दु का कथन

योगीन्दु जैन परम्परा के महान् योगी हुए हैं। उन्होंने एक दोहा कहा है, वह इस संदर्भ में आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत मार्मिक है—

**'जसु अब्धिनन्तरि जग बसइ,
जग अब्धिनन्तरि सोई।**

भगवन् ! आपमें तीनों लोक बसते हैं और आप तीनों लोक में बस रहे हैं। यद्यपि जैन दर्शन आकार की दृष्टि से परमात्मा को व्यापक नहीं मानता किंतु ज्ञान की दृष्टि से व्यापक भी मानता है। सिद्ध का ज्ञान तीन लोक को अपना विषय बनाता है इसलिए वह तीनों लोकों में रहता है और उसके ज्ञान में तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। इस संदर्भ में कबीर का यह कथन संगत प्रतीत होता है— निर्गुण में गुण, गुण में निर्गुण। जैसे गुण में निर्गुण है और निर्गुण में गुण है वैसे ही तीनों लोक में आप और आपमें तीनों लोक हैं। यह महत्त्व सिद्ध की उपासना का आधार रहा है।

सिद्ध का मंत्र शक्तिशाली है, इसका एक रहस्य यह है— इस मंत्र के साथ एक विराट् भावना जुड़ी हुई है, विराट् आधार जुड़ा हुआ है। हम प्रबल भावना के साथ, समग्र कल्पना और अखिल विशेषताओं के साथ तादात्म्य स्थापित करें, 'णमो सिद्धाणं' की उपासना करें, जप और ध्यान करें। यह मंत्र शक्ति और सिद्धि देने वाला है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

णमो आयरियाणं

समस्याओं का समुद्र बहुत विशाल है। उसे नौका और नाविक के बिना तरा नहीं जा सकता। अच्छी नौका न हो और नाविक न हो तो व्यक्ति बीच में ही डूब जाता है। मनुष्य ने इस अपेक्षा को कभी नहीं भुलाया। वह सदा इसके प्रति जागरूक रहा है। जरूरत है यह शरीर श्रेष्ठ नौका बने, जिससे हम समस्याओं के समुद्र को तैर सकें। आचार्य वही होता है, जो नौका को पार पहुंचाए।

अपायज्ञ : उपायज्ञ

प्राचीनकाल में आचार्य की विशेषताओं का जो वर्गीकरण किया गया, उसे आधुनिक संदर्भ में देखने की जरूरत है। आचार्य की पहली विशेषता है— जो स्वयं आचारयुक्त है और दूसरों को आचारयुक्त बनाता है, वह आचार्य है। स्वयं आचारनिष्ठ है और दूसरों में आचार की निष्ठा पैदा करता है, वह आचार्य है। इसके लिए आवश्यक है— अपायज्ञ और उपायज्ञ होना। आचार्य को अपायज्ञ— समस्याओं को समझने वाला होना चाहिए। जिसमें समस्याओं को समझने का युग बोध नहीं होता, वह अपायज्ञ नहीं हो सकता। अपायज्ञ हुए बिना अपाय का निवारण संभव नहीं है। जो अपाय को जानता है किन्तु उपाय को नहीं जानता, वह भी समस्या का निराकरण नहीं कर सकता। अध्यात्म के क्षेत्र में आचार्य एक चिकित्सक का काम करता है। वैद्य या डाक्टर जैसे शरीर के लिए चिकित्सा का कार्य करता है, वैसे ही आत्मा के लिए आचार्य चिकित्सक का दायित्व निभाता है। यदि शरीर के संदर्भ में देखें। एक व्यक्ति बीमार है और डॉक्टर समय पर नहीं पहुंच पाता है

तो कैसी स्थिति बनती है ? चिकित्सा के आभाव में रोगी को अकाल मृत्यु का वरण भी करना पड़ जाता है । अनेक लोग इस भाषा में बोलते हैं—यदि समय पर सही चिकित्सा उपलब्ध होती तो व्यक्ति बच जाता । चिकित्सा नहीं मिली, जीवन से हाथ धोना पड़ा । आत्मा के क्षेत्र में भी यही बात है । कुशल चिकित्सक आचार्य मिल जाता है तो समस्या समाहित हो जाती है ।

कुशल चिकित्सक की उपलब्धि सहज नहीं है । अध्यात्म के क्षेत्र में यह समस्या अधिक जटिल है । अच्छा चिकित्सक, कुशल आचार्य मिलना दुर्लभ है, जो उपाय सुझा सके । सामान्य आदमी अपाय का अनुभव भी नहीं करता, उपाय की बात तो बहुत दूर है । शरीर से भी जटिल है आत्मा की समस्या अथवा भावात्मक समस्या । शरीर का रोग कभी-कभी होता होगा, किन्तु भावात्मक समस्या को व्यक्ति प्रतिदिन भोगता है । थोड़ी-सी प्रतिकूलता आती है, भावात्मक समस्या उभर आती है । राग, द्वेष, घृणा, भय, हीन-भावना—इनमें से कोई भी शक्तिशाली बना, बीमारी पैदा हो जाएगी । एक व्यक्ति बहुत संवेदनशील है । एक भी शब्द अप्रिय सुनने को मिलता है, दिन भर तनाव से भरा रहता है और कभी-कभी कोपघर में जाकर भी सो जाता है । इस प्रकार की आत्मिक बीमारी कौन व्यक्ति नहीं भोगता ? इस स्थिति में यदि उपायज्ञ आचार्य न मिले तो बीमारी से छुटकारा नहीं हो सकता ।

उपायज्ञ थे महावीर

भगवान् महावीर चण्डकौशिक सर्प के बिल के पास पधारे । वह बीमार था । यदि बीमार नहीं होता तो वह काटता नहीं । काटना उसकी बीमारी का लक्षण था । क्रोध करने वाला व्यक्ति वस्तुतः बीमार होता है । व्यक्ति यह नहीं सोच पाता—बीमारी की चिकित्सा करनी चाहिए या उसे और बढ़ाना चाहिए । एक क्रोध करने वाला, अहंकार और लोभ से ग्रस्त दयनीय होता है । हम उस पर दया नहीं करते, बीमारी को बढ़ाने का अवसर देते हैं । महावीर उपायज्ञ थे । उन्होंने देखा—चण्डकौशिक बीमार है, वह आक्रोश से आक्रांत है । इसकी बीमारी को क्रोध या शस्त्र से नहीं मिटाया जा सकता । चण्डकौशिक भयंकर रोषाग्नि उगल रहा था, दूसरी ओर महावीर करुणा की अजस्र वृष्टि

कर रहे थे। चण्डकौशिक का क्रोध शान्त हो गया। वह स्वस्थ बन गया।

मेघकुमार भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुआ और वह पहली रात में ही बीमार हो गया। उसका चित्त हीनभावना से आक्रांत हो गया। उसने सोचा—मुझे यहां कोई पूछता ही नहीं। अहंकार के शिखर पर चढ़ा हुआ राजकुमार था वह। मुनियों के पैरों के स्पर्श से उसकी निद्रा भंग हो गई। हीन भावना जाग गई। हीन भावना से ग्रस्त व्यक्ति बहुत बीमार हो जाता है। एक व्यक्ति ने पत्र में अपनी समस्या लिखी — 'मैं कारण अकारण ही हीन-भावना से ग्रस्त हो जाता हूँ। अनेक बार मन में आत्महत्या करने का विकल्प उठ जाता है। मुझे क्या करना चाहिए? मेघकुमार ने आत्महत्या का ही प्रयत्न किया। साधुत्व को त्यागने का संकल्प ले लिया। महावीर ने मेघकुमार की मनःस्थिति को जाना। महावीर ने पूर्व-जन्म का रेखाचित्र खींचा—मेघ! तू पूर्व भव में हाथी था। तुमने कितने कष्ट सहे। आज थोड़े-से कष्टों में तू अधीर हो गया। यह उपाय कारगर हो गया। मेघ को पूर्वजन्म की स्मृति हो आई। वह स्वस्थ बन गया, बीमारी मिट गई।

आचार : पांच आयाम

आचार्य उपाय को जानता है। उपाय की दिशा में आचार का विस्तार होता है। जैन आचार-मीमांसा में आचार शब्द बहुत व्यापक है। जितना व्यापक संदर्भ जैन आचार-मीमांसा का है, उतना किसी अन्य आचार मीमांसा में नहीं मिलता। जैन-दर्शन में आचार के पांच प्रकार बतलाए गए हैं—

१. ज्ञान आचार
२. दर्शन आचार
३. चरित्र आचार
४. तप आचार
५. वीर्य आचार

आचार के ये पांच आयाम हैं। आचार्य इन पांचों आचारों का निर्वहन करता है।

ज्ञान आचार

स्वयं सूत्रधर होना और दूसरों को सूत्रधर बनाना, आचार्य का बहुत

बड़ा दायित्व है। आचार्य स्वयं ज्ञान के सारे आचारों का सम्यक् अनुशीलन करता है और दूसरों से करवाता है। ज्ञान के आठ आचार हैं—

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तहा अनिण्हवणे य ।
वंजण अट्ट तदुभये, अट्टविहो णाणमायारो ॥

समय पर स्वाध्याय करना, विनय के साथ स्वाध्याय करना, ज्ञान को बहुमान देना, उपधान करना, ज्ञान का अपलाप न करना, सूत्र और अर्थ का सम्यक् बोध— यह सब ज्ञान का आचार है। आचार्य इस आचार की परिपालना और सुरक्षा में सतत जागरूक रहता है।

दर्शन आचार

आचार का दूसरा आयाम है दर्शन। निःशंका, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना—ये दर्शन के आचार हैं। आचार्य जिनशासन के प्रति अटूट निष्ठाशील होते हैं और जनता को भी वैसा बनाते हैं। स्वयं स्थिर रहना सहज है किन्तु दूसरों को स्थिर बनाना बहुत जटिल काम है। हजारों लाखों लोगों को एक प्रकार की विचार-धारा में बनाए रखना कितना कठिन है। तेरापंथ धर्मसंघ की यह विशिष्टता है कि उसमें एक आचार्य, एक आचार और एक विचार की परम्परा प्रतिष्ठित है। एक आचार में समानता संभव हो सकती है पर विचार को एक रख पाना बहुत दुष्कर है। विचारों को बांधा नहीं जा सकता। विचार इतना चंचल और सूक्ष्म है कि उसे पकड़ पाना सहज शक्य नहीं है। विचारों का समीकरण और एकत्व बना रहे, यह आचार्य का दायित्व है। इस दिशा में आचार्य भिक्षु का और तेरापंथ की परम्परा का बहुत प्रयत्न रहा है, एक विचार की अवधारणा को बहुत महत्व दिया है। यदि आचार्य कुशल होता है तो एक आचार और एक विचार बना रहता है। यदि आचार्य समर्थ नहीं है तो न एक आचार रह सकता है, न एक विचार रह सकता है। विचार की एकता का केन्द्र बिन्दु है आचार्य।

चरित्र आचार

आचार का तीसरा आयाम है चरित्र । आचार्य पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति में स्वयं सजग रहता है और दूसरों को सजग बनाए रखता है । चरित्र का तात्पर्य है आचरण की पवित्रता ।

तप आचार

आचार का चौथा आयाम है—तप आचार । आचार्य स्वयं तपस्वी होता है और संघ को भी तप के लिए प्रेरित करता रहता है । तपस्या का अर्थ केवल उपवास ही नहीं है । जिस प्रकार वह तपस्या एक साधन है उसी प्रकार विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि तपस्या के साधन हैं । जो संघ तपस्वी नहीं होता, वह चिरजीवी नहीं हो सकता । चिरजीवी वही होगा, जो तपस्वी होगा । व्यवहार के क्षेत्र में देखा गया है— जो एक अवस्था के बाद एकांतर तप शुरू कर देता है, सचमुच उसकी आयु बढ़ जाती है, वह चिरजीवी बन जाता है । आहार का असंयम, इन्द्रियों का असंयम जीवन को घटाता है । यह असंयम असमय में मौत का ग्रास बना देता है । त्याग और तपस्या—दोनों चिरजीवन देने वाले हैं । धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक संगठन की चिरजीविता का रहस्य सदस्यों के त्याग तपस्यामय जीवन में छिपा होता है । जहां भोग, सुख-सुविधा और आराम का दृष्टिकोण प्रबल बनता है, वहीं संगठन का अधःपतन शुरू हो जाता है । संघ की तेजस्विता का सूत्र है तपस्या । इसका अनुशीलन और अनुपालन आचार्य का सहज स्वीकृत दायित्व है ।

वीर्य आचार

आचार का पांचवा आयाम है— वीर्य आचार । सब आचारों की रीढ़ है— वीर्य आचार । रीढ़ की हड्डी स्वस्थ है तो पूरा शरीर स्वस्थ । रीढ़ की हड्डी की अस्वस्थता शरीर-तंत्र को अस्वस्थ बना देती है । व्यक्ति अपनी शक्ति का गोपन न करे । तेरापंथ परम्परा की यह विशेषता रही कि इसके आचार्य वीर्यवान् रहे हैं । आचार्य भिक्षु का जीवनवृत्त पढ़ें । उनका वीर्य कितना प्रखर था । जीवन के अंतिम दिनों में खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करते, स्वाध्याय करते,

प्रायः गोचरी करते । बराबर पुरुषार्थ चलता रहा, कभी शक्ति का गोपन नहीं किया । आचार्य भिक्षु के सामने भगवान् महावीर का यह अनुभवपूरित वचन था—**णो णिहेज्ज वीरियं** – शक्ति का गोपन मत करो, शक्ति को छिपाओ मत । शक्ति का पूरा उपयोग करो । यह मत सोचो –अभी शक्ति ज्यादा काम में लेंगे तो बुद्धापे में क्या होगा ? यदि ऐसा सोचोगे तो शक्ति का स्रोत सूख जाएगा । शक्ति को काम में लेते रहेंगे तो वह बनी रहेगी । शक्ति का सम्यग् उपयोग करना और करवाना आचार्य का दायित्व है । इस दायित्व का निर्वहन करने वाला आचार्य संघ और शासन की तेजस्विता बढ़ा देता है ।

आचार्य का दायित्व

आचार्य वह होता है, जो इन पांच आचारों का सजगता के साथ स्वयं पालन कराता है और दूसरों से पालन करवाता है इसीलिए उसका दायित्व बड़ा है । एक मुनि का दायित्व आचार का सम्यक् पालन करना है । किन्तु पालन करवाना उसका अनिवार्य दायित्व नहीं है । कोई उस दायित्व को निभाए या न निभाए, प्रेरक बने या न बने, पर आचार्य का यह भार है इसीलिए गुरु भारी बने हैं । आज गुरु शब्द प्रचलित हो गया । वस्तुतः आचार्य शब्द अधिक सार्थक है । गुरु में अर्थान्तर हुआ है, अर्थ का विकास हुआ है । गुरु शब्द इस तात्पर्य में प्रयुक्त हुआ है कि उसे दूसरों का इतना बड़ा भार उठाना होता है । दूसरों के भार को उठाना, इससे बड़ा कोई भार नहीं है । एक व्यक्ति एक क्विंटल वजन की बोरी उठा सकता है किन्तु एक पचास किलो के आदमी का वजन उठाना मुश्किल हो जाता है । दूसरों को निभाना, अपने मन के अनुकूल चलाना बड़ी समस्या है । हजारों लाखों व्यक्तियों की श्रद्धा का भार उठाना गुरुतर दायित्व है और आचार्य इस दायित्व का निर्वहन करता है ।

इन पांच आचारों का वर्गीकरण करें तो कहा जा सकता है—अपायज्ञ, उपायज्ञ, ज्ञान दर्शन और चारित्र की संपन्नता, इनका समवाय है आचार्य । इस शक्तिशाली पद की वंदना का स्वर है—**‘णमो आयरियाणं ।’**

णमो उवज्झायाणं

सुप्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्टे ने कहा— 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ।' अस्तित्ववादी दार्शनिक नीत्से ने इसका खंडन किया। उन्होंने कहा— मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ, यह अधूरी बात है। इसमें केवल तर्क का ज्ञान है। हमारा अस्तित्व तर्क के आधार चलता नहीं है। उसके लिए दो बातें होनी चाहिए— तर्क और अन्तर्दृष्टि। रीजन और इन्ट्यूशन—दोनों का योग होना चाहिए। यह एक परिपूर्ण दृष्टिकोण है। बाह्य जगत् में, बौद्धिक जगत् में जहां तर्क की अपेक्षा है, वहां अन्तर्ज्ञान के लिए, साक्षात्कार के लिए, अन्तर्दृष्टि, प्रातिभा ज्ञान अथवा प्रज्ञा की आवश्यकता है। प्रज्ञा और तर्क— दोनों का समन्वय होता है तब हमें ठीक बोध होता है।

पाठक पाठ और अनयोग

आज के शिक्षा संस्थानों में तर्क का ज्ञान बहुत चल रहा है। प्राथमिक स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक तर्क का बहुत अवकाश है किंतु प्रज्ञा के लिए अवकाश नहीं है। उपाध्याय वह होता है, जो प्रातिभ ज्ञान या प्रज्ञा की परंपरा का संवहन करता है। वह आध्यात्मिक ज्ञान का संवाहक होता है। इसी आधार पर प्राचीनकाल में विद्या को दो भागों में बांटा गया— लौकिक विद्या, लोकोत्तर विद्या। उपनिषदों का वर्गीकरण रहा— परा विद्या और अपरा विद्या। उपाध्याय लोकोत्तर विद्या का संवहन करता है। यदि उपाध्याय न हो तो ज्ञान की परंपरा टिक ही न पाए। उपाध्याय ज्ञान की परंपरा को चलाता है और आचार्य उसके साथ अनुयोग को जोड़कर उसे गहराई तक पहुंचा देता है। पाठक, पाठ और अनुयोग— इनका योग जरूरी है। शब्द के अर्थ

का हृदय, तात्पर्यार्थ और ऐदंपर्यार्थ मिलता है तब किसी शब्द की आत्मा को पकड़ा जा सकता है ।

भटकाव का हेतु

यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि आज आत्मविद्या के विकास में कमी आई है । जितने धर्म सम्प्रदाय हैं, वे लौकिक विद्याओं के प्रति झुके हुए हैं । आत्मविद्या की उन्मुक्तता भी कम है । आत्मविद्या के रहस्य भी बहुत कम जाने जाते हैं । विरल लोग हैं, जो इस विद्या के रहस्यों को जानते हैं इसीलिए भारत की जो मूल विद्या थी, वह लुप्त होती चली गई । आज आकर्षण का विषय है लौकिक विद्याएं अथवा चमत्कारी विद्याएं । जनता का आकर्षण भी चमत्कार में है इसलिए धर्म के लोग भी चमत्कार की दिशा में अधिक लगे हुए हैं । आत्मविद्या की दिशा में प्रस्थान करने वाले लोग बहुत कम हैं । जब अस्तित्व का बोध सुरक्षित नहीं रहता, आत्मा के बारे में हमारी जानकारी कम होती है । आज जो भ्रम है, व्यामोह है, अटकाव या भटकाव है, उसका हेतु है— आत्मा के बारे में हम जानते नहीं हैं । जब आत्मा के बारे में ज्ञान नहीं होता, तब कोई भी भटका सकता है, भुलावे में डाल सकता है ।

दिल्ली महानगर का स्टेशन था । अनेक गाड़ियां खड़ी थीं, टिकट चेकर एक गाड़ी में घुसा और टिकट चेक करने लगा । उसने लोगों से कहा—तुम गलत गाड़ी में बैठ गए हो । लोग गाड़ी से उतरने शुरू हो गये । लोगों से भरी गाड़ी प्रायः खाली हो गई । एक आदमी अन्तर्दृष्टि संपन्न था । उसने कहा— 'टिकट बाबू ! मैं पूरी जांच-पड़ताल कर इसमें बैठा हूं । मैं गलत नहीं हूं । तुम गलत हो, गाड़ी गलत नहीं है । तुम गलत गाड़ी में टिकट चेक करने आ गए ।' यह सुनकर टिकट चेकर चौंका । उसने ध्यान दिया । उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि वह गलत गाड़ी के टिकट चेक कर रहा है । सभी यात्री टिकट चेकर के कहने पर गाड़ी से उतर गए थे । वे गलत नहीं थे, गलत था टिकट चेकर ।

आत्म बोध की परंपरा के संवाहक

जब व्यक्ति में आत्मबोध नहीं जागता, वह स्वयं भुलावे में रहता है और दूसरों को भी भुलावे में डाल देता है। यही है मोह, सम्मोह, इल्यूनन। जिसमें अपने अस्तित्व का बोध होता है, वह कभी दूसरों को भुलावे में नहीं डालता। इस अस्तित्ववादी परम्परा तथा आत्मबोध की परम्परा के निर्वाहक होते हैं—
उपाध्याय

जैन परंपरा में आचार्य और उपाध्याय दो व्यक्ति रहे हैं। उनका अपना-अपना दायित्व था। कभी-कभी ये दोनों पद एक ही व्यक्ति में समाविष्ट हो जाते। एक ही व्यक्ति आचार्य भी होता और उपाध्याय भी होता। दोनों का कार्य वह अकेला सम्पादित करता। हम आचार्य और उपाध्याय को व्यक्ति न मानकर उनकी कार्यगत मीमांसा करें। उनके कार्य दो हैं। आचार्य का कार्य है— गण को आचारनिष्ठ बनाना तथा गण की रहस्यपूर्ण नीतियों का निर्धारण करना, आत्मविद्या की परम्परा का निर्वहन करना। ये दोनों कार्य चाहे एक ही व्यक्ति संपादित करे अथवा दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति सम्पादित करें, कोई अन्तर नहीं आता। दोनों कार्य अत्यंत अपेक्षित और अनिवार्य हैं।

प्रश्न है श्रुत की सुरक्षा का

जैन परंपरा के पास अपार ज्ञानराशि थी। उसका उचित संरक्षण न होने के कारण १०-१५ प्रतिशत भाग काल-कवलित या विस्मृत हो गया, विलुप्त हो गया। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विनष्ट हो गये। कुछेक ग्रन्थ विनष्ट कर दिए गए। उस समय अनेक विशाल ग्रन्थागार थे, शास्त्र-भंडार थे, उन्हें विद्यार्थियों ने जला डाला। साम्प्रदायिक उन्माद से ग्रस्त व्यक्तियों ने बड़े-बड़े पुस्तक भंडारों को नष्ट कर डाला। वल्लभी में ३६ हजार क्षत्रिय परिवार जैन थे। वह जैनों का प्रसिद्ध केंद्र था। वहां बड़े-बड़े शास्त्र-भंडार थे। उनमें दुर्लभ ग्रंथरत्न थे। वे विनष्ट हो गए। जैन श्रमणों के प्रमाद और आलस्य के कारण भी अनेक कंठस्थ-ग्रंथ विस्मृत हो गए। नन्दी की सूची से ज्ञात होता है कि उस समय कितने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रचलित थे। आज उनके नाम मात्र रहे हैं। ग्रन्थों की उपलब्धि नहीं है। व्यवहारभाष्य में उल्लिखित

जैन धर्म के साधना-सूत्र

‘आसावसभावना’, ‘चारणभावना’ आदि ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। ग्रन्थों में उल्लिखित विद्याएं भी उन्हीं के साथ लुप्त हो गईं। आज प्रश्न यह है कि वर्तमान में उल्लिखित श्रुत की सुरक्षा कैसे की जा सकती है? आज सुरक्षा के अनेक उपकरण विकसित किए गए हैं पर वे भी पूर्ण सुरक्षा के साधन नहीं हैं।

यदि उपाध्याय की परंपरा सुरक्षित नहीं है तो श्रुत की परंपरा भी सुरक्षित नहीं रह सकती। ‘उपाध्याय’ नाम या पद से व्यामोह नहीं है। किन्तु आज ऐसे जैन श्रमण-श्रमणियों की आवश्यकता है, जो आत्मविद्या की परंपरा को बला सकें, आगे बढ़ा सकें और ‘संघपुरुष चिरायु’ हो के घोष के साथ ‘आत्मविद्या चिरायु हो’ के घोष का पुनः उच्चारण कर सकें।

शान्ति है आत्मा की अनुभूति

गीता में कहा गया—‘अध्यात्मविद्या विद्यानां’—सभी विद्याओं में अध्यात्मविद्या श्रेष्ठ है। यह वचन सुचिन्तित और अनुभूत सत्य है। अध्यात्मविद्या को श्रेष्ठ कहने का रहस्यपूर्ण कारण है। सभी विद्याएं आत्मा की ओर नहीं ले जातीं। जैसे-जैसे व्यक्ति आत्मा से दूर होता जाता है, वैसे-वैसे वह अशांति के वात्याचक्र में फंसता जाता है। आज अशांति अधिक क्यों है? इसका कारण यह है कि जितनी आत्मा से दूरी बढ़ती जायेगी, उतनी ही मानसिक अशांति बढ़ती जाएगी। शान्ति का कारण है— आत्मा में रहना, आत्मा की अनुभूति करना। आत्मा से दूर होने का अर्थ है— पदार्थ के निकट होना। यही अशांति का कारण है। आत्मा की अनुभूति के बिना सचाई का पता नहीं चलता। जब सचाई ज्ञात नहीं होती तब अनर्थ पैदा होता है। एक अनर्थ से दूसरा अनर्थ पैदा होता ही रहता है। फिर उसे अनुताप होता है—काश ! मैं आत्मा से दूर नहीं जाता।

खुशी नहीं दे सका पुरस्कार

एक ठेकेदार था। उसने राजा के अनेक महल बनाए थे। वह विश्वस्त और परिश्रमी व्यक्ति था। राजा ने सोचा— इसने मेरी इतनी सेवा की है, मुझे

उसे पारितोषिक देकर सन्तुष्ट करना है। राजा ने उसे एक भव्य मकान बनाने का आदेश दिया। ठेकेदार ने मकान बनाना प्रारंभ किया। उसने सोचा— अब यह अन्तिम अवसर है। कुछ बचा लूंगा तो अच्छा है। उसके मन में बेईमानी आ गई। उसने मकान खड़ा कर दिया। ऊपर से साफ-सुथरा दिखने वाला मकान भीतर से खोखला था। उसने उसके निर्माण में काफी धन बचा लिया। राजा ने मकान देखा। भव्य इमारत को देखकर राजा प्रसन्न हुआ। उसने ठेकेदार के सम्मान में एक आयोजन किया। सभी सभासद तथा अन्यान्य सभ्रान्त नागरिक उस आयोजन में आए। राजा ने ठेकेदार के कार्य की प्रशंसा करते हुए कहा— इस व्यक्ति की सेवाओं से मैं सन्तुष्ट होकर आज यह भव्य मकान इसको उपहार के रूप में दे रहा हूँ। तालियों की गड़गड़ाहट से सभी ने राजा के वचन का अनुमोदन किया। राजा ने वह भव्य मकान ठेकेदार को सौंप दिया।

ठेकेदार का मन खिन्न था। वह बाहर से प्रसन्न दिख रहा था किन्तु मन विषण्ण था— ओह ! मेरी मूर्खता ने मुझे ठग लिया। यदि मैं बेईमानी नहीं करता तो.....।

यही दशा उन सबकी होती है, जो आत्मा से दूर चले जाते हैं, पदार्थों में उलझ जाते हैं। अन्त में उन्हें अनुताप, मानसिक संताप झेलना पड़ता है।

समाधान है अध्यात्म विद्या

विद्याओं में अध्यात्मविद्या सार है। यही एकमात्र शांति का उपाय है। यही अन्तिम शरण है। जो इस सचाई को जान जाता है, वह सुखी बन जाता है, शान्त बन जाता है।

परिवार का एक सदस्य चल बसा। वर्षों के बाद भी माता-पिता को उसकी याद सताती रहती है। याद आते ही उन्हें रुलाई आ जाती है। इसका कारण है कि वे इस सचाई को नहीं जानते कि संयोग के साथ वियोग जुड़ा रहता है। 'संयोगाः विप्रयोगान्ताः।' जो संयोग को शाश्वत मान लेता है, वह धोखा खाता है। आत्मविद्या का ज्ञाता कभी संयोग को शाश्वत नहीं मानता। जिसका संयोग होता है, उसका वियोग निश्चित है। आत्मविद्या

सभी समस्याओं का समाधान है। उस आत्मविद्या का निर्वाह करना आवश्यक है। आज यदि कोई बड़ी सम्पदा है तो वह है आत्मविद्या की सम्पत्ति। यदि इसकी विस्मृति होती है तो भारत की आत्मा ही नष्ट हो जाती है। कितना बड़ा दायित्व है इस विद्या की सुरक्षा करना। आचार्य और उपाध्याय का यह गुरुतर दायित्व है। आत्मविद्या गुह्य विद्या है। 'गोप्यं पुनरपि गोप्यं— यह इसी विद्या के लिए कहा गया है। ऐसा लगता है कि 'गोप्यं गोप्यं' कहते-कहते वह पूरी विद्या ही गुप्त हो गई, लुप्त हो गई।

योगक्षेम वर्ष का उद्देश्य

सन् १९८९ में 'योगक्षेम वर्ष' मनाया गया। उसका मुख्य उद्देश्य यही था कि आत्मविद्या की परंपरा सुरक्षित रहे। लौकिक विद्याओं की सुरक्षा के लिए आज अनेक शिक्षण संस्थान कार्यरत हैं। उनके चरण विकासोन्मुख हैं। इन विद्याओं के ग्रन्थ प्रतिदिन प्रकाशित हो रहे हैं। लाखों-लाखों ग्रंथ सामने आ रहे हैं। प्रतिवर्ष पुस्तक-मेले लगते हैं किंतु आत्मविद्या के अध्ययन-अध्यापन का कोई शिक्षण संस्थान प्रकाश में नहीं है, जो इस विद्या को आगे बढ़ाता रहे। यह सचमुच एक कमी है। जैन मनीषियों को यह चिन्ता है कि हमारी श्रुतज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न कैसे रह सकती है ?

जरूरत है उपाध्यायों की

आत्मविद्या की परंपरा भगवान् महावीर से चली। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसे सुरक्षित रखा और आचार्य भिक्षु उसी परंपरा को आगे बढ़ाने में लगे। वे आत्मविद्या के संवाहक आचार्य थे। उनका ध्यान आत्मविद्या पर केन्द्रित था। वे निश्चय की भाषा में बोले, इसलिए व्यवहारवादी लोगों को उसे समझने में कठिनाई का अनुभव हुआ। आचार्य भिक्षु निश्चय की भाषा जानते थे, सोचते थे और अनुभव करते थे। आज भी आत्मविद्या की परंपरा को विकसित करने की बात सोची जा रही है। इस उपक्रम को स्थायी रखने के लिए जरूरत है उपाध्यायों की। उपाध्याय पुस्तक पर निर्भर नहीं होता। वह अपने मस्तिष्क पर, कंठ पर, जीभ पर अधिक निर्भर होता है। इसका तात्पर्य है कि वह

ज्ञान को इतना आत्मसात् कर लेता है कि सर्वत्र पुस्तक देखकर पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती। उनमें स्मृति का विकास इतना होता है कि जो कुछ भी ज्ञान है, वह उनकी स्मृति में पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित रहता है। प्राचीन काल के ऐसे अनेक उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत हैं।

स्मृति का चमत्कार

उपाध्याय यशोविजयजी बनारस में थे। वहां नैयायिक परंपरा का एक अलभ्य ग्रन्थ एक ब्राह्मण विद्वान् के पास था। वह उस ग्रंथ को दे नहीं रहा था। उपाध्यायजी ने उसका पारायण करना चाहा। ब्राह्मण को समझाया, पर वह अपने आग्रह पर अडिग रहा। ज्यों-त्यों उसे प्रसन्न किया। उसने कहा—एक दिन के लिए मैं यह ग्रंथ दे सकता हूँ जितना पढ़ सको, पढ़ लो दूसरे दिन उसे मुझे सौंपना होगा। उपाध्यायजी ने यह बात मान ली। उसमें सात सौ श्लोक थे। उपाध्यायजी ने एक ही दिन में उन सभी श्लोकों को कण्ठस्थ कर लिया और दूसरे ही दिन ग्रन्थ लौटा दिया। यह है स्मृति का चमत्कार।

स्मृति की प्रखरता का एक मात्र साधन है आत्माभिमुख होना। जो आत्मा की सन्निधि से दूर चला जाता है, वह स्मृति की प्रखरता को प्राप्त नहीं कर सकता। स्मृति तब बनी रहती है जब व्यक्ति अन्तर्मुख होता है। आत्माभिमुखता से स्मृति बढ़ती चली जाती है। जब व्यक्ति आत्मा से दूर जाता है, तब वह पदार्थों में उलझ जाता है और तब श्रुत की स्मृति का हास होता है।

कम्प्यूटर है मस्तिष्क

आज जो कम्प्यूटर का विकास हुआ है, वह आत्मविस्मृति की निष्पत्ति है। यह कोई बड़ा चमत्कार नहीं है। यदि व्यक्ति आत्मोन्मुख होता तो वह स्वयं कम्प्यूटर का काम कर पाता। आदमी के मस्तिष्क से बढ़कर कम्प्यूटर नहीं है।

प्राचीनकाल में विशिष्ट मुनि चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर उसका

पुनरावर्तन भी करते थे। इतनी विशाल ज्ञानराशि कि आज उसकी कल्पना भी दुरूह-सी लगती है। कम्प्यूटर बेचारा उनके सामने अत्यन्त बौना प्रतीत होता है। बूंद और सागर की स्थिति रहती है। इतने विशाल ज्ञान को मस्तिष्कीय कोशों में संचित कर रखना, आवश्यकतानुसार उसका उपयोग करना महान् आश्चर्य है।

आज भी ऐसे उपाध्यायों की आवश्यकता है जिनकी स्मृति का विकास चरम शिखर पर हो।

विशेषज्ञ बनें

हमारी तेरापंथ की परंपरा में आचार्य ही उपाध्याय का कार्य सम्पादित करते हैं, आचार्य ही उपाध्याय होता है। मैं चाहता हूँ कि आचार्य का एक ऐसा सहयोगी उपाध्याय हो, जो ज्ञान को अपने में समेटे हुए चले। इसके लिए आज एक नया शब्द व्यवहृत हुआ है, वह शब्द है 'विशेषज्ञ'। वह विशेषज्ञ ऐसा हो, जो आत्मविद्या की परंपरा का संवहन करे, उसे विकसित करे। उस परंपरा की विच्छिन्ति न हो, यह उसका दायित्व होना चाहिए।

उपाध्याय का इसीलिए महत्त्व है कि आत्मविद्या के वे पूरे संरक्षक होते हैं। इसीलिए महामंत्र में आचार्य के पश्चात् उपाध्याय को नमस्कार किया गया है—'णमो उवज्झायाणं ।'

णमो लोए सव्व साहूणं

मनुष्य ने जब धर्म को समझा, अध्यात्म की दिशा में प्रस्थान किया तब उसके मन में एक विकल्प उठा कि ऐसा मनुष्य होना चाहिए, जो अनगार हो, जिसके अगार—घर न हो। हर आदमी घर बनाने की बात पहले सोचता है। आदमी ही नहीं, प्रत्येक प्राणी अपने लिए घर बनाता है। चींटी, मकोड़े भी अपना 'बिल' बनाते हैं। चूहे भी अपना बिल बनाते हैं। पशु पक्षी भी अपना घर बनाते हैं। कोई घरौंदा बनाता है, कोई नीड़, कोई घोंसला और कोई घुरा बनाता है। प्रत्येक प्राणी को घर चाहिए। इस विश्व में एक नया प्रकल्प उठा कि ऐसा भी प्राणी होना चाहिए, जो अपना घर न बनाए, जिसका अपना घर न हो। यह नया प्रकल्प था।

अनगार

सरकार भी सबको आवास व्यवस्था की सुविधा देने की बात सोचती है और इस दिशा में सघन प्रयत्न भी करती है। वह चाहती है कि बेघरबार कोई न हो। 'गडरिये लुहार' जो पीढ़ियों से घुमक्कड़ हैं, निरन्तर घूमते रहते हैं, उन्हें भी बसाने का प्रयत्न हुआ है और हो रहा है। रोटी जरूरी है जीने के लिए। परन्तु घर उससे कम जरूरी नहीं रहा। इन सबके विपरीत 'बेघरबार' व्यक्ति की कल्पना की गई, अनगार की कल्पना हुई। अनेक व्यक्ति इस दिशा में प्रस्थित होकर अनगार बन गए। घर को छोड़कर बेघरबार हो गए।

यद्यपि यह अनगार घरों में रहते हैं, पर उनके दिमाग में घर नहीं रहता। रहने का स्थान जंगल भी है, गुफा भी है और घर भी है। अनगार इन सब स्थानों में रहते हैं। प्रासाद में भी रहते हैं, पर उनके दिमाग में प्रासाद नहीं

रहता । उनमें घर बनाने की कल्पना नहीं रहती । अनगारत्व उनका विशेष गुण बन जाता है ।

निर्ग्रन्थ

कल्पना आगे बढ़ी ! एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जिसके कोई गांठ न हो, सर्वथा निर्ग्रन्थ हो । यह बड़ी कल्पना है । प्रत्येक व्यक्ति के मन में अनगिन गांठें होती हैं । ऐसी स्थिति में 'निर्ग्रन्थ' व्यक्ति की कल्पना महत्त्वपूर्ण है । महावीर का एक विशेषण ही बन गया— निगन्धे नायपुत्रे—निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र ।

साधनाशील

तीसरी कल्पना हुई— ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जो साधना करे, साधना में ही रहे, साधु बने । वह आत्मा की आराधना करे, आत्मा में रहे, पदार्थ से विमुख हो, आत्मा के उन्मुख हो । साधना का इतना ही अर्थ है कि साधक आत्मा से जुड़ जाए, पदार्थ से बिछुड़ जाए । उसमें 'भेदविज्ञान' की भावना जाग जाए । वह अनुभव करने लगे कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है । इसका सरल उपाय है— कायोत्सर्ग । महावीर की पूरी साधना को यदि एक शब्द में बताना पड़े तो वह शब्द है—कायोत्सर्ग । इस एक शब्द में पूरी साधना समा गई ।

सभी मूर्च्छाओं की जड़ है—काया अर्थात् शरीर । मोह इसी से उत्पन्न होता है । जिसने शरीर की मूर्च्छा को तोड़ डाला, शरीर और आत्मा के पृथक्करण की अनुभूति प्राप्त कर ली, वह निर्मोह होने की दिशा में प्रस्थित हो गया ।

साधक को कायोत्सर्ग से तीन लाभ होते हैं । उसको मन की स्वस्थता, वाणी और काया की स्वस्थता अपने आप उपलब्ध होती है । इन तीनों में मन की स्वस्थता महत्त्वपूर्ण है । मन की स्वस्थता का अर्थ है— मन की अचंचलता । शरीर को शिथिल करना मन को शिथिल करना है । वाणी को शिथिल करना मन को शिथिल करना है । शरीर और वाणी की चंचलता है तो मन की स्थिरता कभी नहीं हो सकती । शरीर और वाणी अचंचल होते

हैं तो मन स्वयं अचंचल बन जाता है, एकाग्र बन जाता है । यही साधना का रहस्य है । कायसिद्धि, वाक्सिद्धि और मनःसिद्धि— यह त्रिपुटी ही है साधना । जो इसकी साधना करता है, वह है साधु ।

‘स्वपरकार्याणि साधयतीति साधुः’—जो अपना तथा पराया हित साधता है, वह है साधु । वही होता है—‘तिन्नाणं तारयाणं ।’

यति

चौथी कल्पना उठी— एक ऐसा वर्ग होना चाहिए, जो इन्द्रियों से ऊपर उठकर जीए, जो यति हो । यति का अर्थ है—इन्द्रियों के स्तर पर नहीं जीने वाला व्यक्ति, उपरति/विरति का जीवन जीने वाला साधक । वैसा साधक, जो इन्द्रियों से काम लेता है, पर उनसे विमुख रहता है । यह अत्यन्त कठोर साधना है ! आंख से देखना और आंख से संयम रखना—दोनों बातें एक साथ करना, बहुत ही कठिन होता है । भोजन करना और जिह्वेन्द्रिय का संयम रखना, शब्द सुनना और उसमें प्रिय-अप्रिय न जोड़ना, बड़ा कठिन कर्म है ।

यह एक ऐसी साधना पद्धति है कि इन्द्रियों से काम लेना, पर उसमें नहीं फंसना । साधकों ने इसकी साधना का भी उत्तरोत्तर विकास किया है ।

व्यक्ति अनगार बना, निर्ग्रन्थ बना, यति बना और साधु बना । सारी बातें अद्भुत हैं । आज अद्भुत नहीं लग रही हैं, पर जो इनका आदि बिन्दु था, उस समय कितना विस्मय हुआ होगा । आज हम सब इन कल्पनाओं से परिचित हो चुके हैं, इसलिए आश्चर्य नहीं होता ।

चूहा बिल्ली से डरे, यह हम जानते हैं पर चूहा बिल्ली के सिर चढ़कर नाचे, इस तथ्य से हम परिचित नहीं हैं । एक वैज्ञानिक ने इसे भी कर दिखाया कि बिल्ली भयभीत बैठी है और चूहा उसके सिर पर चढ़ा हुआ है ।

मुनि

इन सब बातों के साथ एक कल्पना और उठी कि व्यक्ति ‘मुनि’ बने । मुनि का अर्थ है—ज्ञानी । जो जानता है, वह होता है मुनि । न बोलना ही मुनि नहीं है । जानने वाला होता है मुनि । वह जानता भी है और आचरण भी

करता है। आचरण के साथ ज्ञान और ज्ञान के साथ आचरण— यह है मुनित्व। इस दिशा में प्रस्थान हुआ। ज्ञान बढ़ता चला गया। कहा जाता है— सरस्वती दो, सरस्वती बढ़ेगी। लक्ष्मी दो, लक्ष्मी घटेगी। एक के विनिमय में लाभ है और दूसरे के विनिमय में हानि।

बढ़ता है विचार, घटता है पदार्थ

एक आदमी आया। उसने अपने मित्र से कहा— तुम्हारे पास जो रुपया है, वह मुझे दे दो और मेरे पास जो रुपया है, उसे ले लो। विनिमय किया। दोनों के पास रहा केवल एक-एक रुपया।

एक आदमी आया। उसने अपने मित्र से कहा— मैं तुम्हें एक विचार देता हूँ कि सदा अच्छे व्यक्तियों की संगत करो। तुम भी मुझे एक विचार दो। उसने कहा—सदा मीठा बोलो। प्रश्न हुआ कि दोनों व्यक्तियों के पास कितने विचार हुए? दोनों के पास दो-दो विचार हो गए।

रुपये का विनिमय किया तो दोनों के पास एक-एक रुपया ही रहा। विचार का विनिमय किया तो दोनों के पास दो-दो विचार हो गए।

ज्ञान के विनिमय से ज्ञान बढ़ता है और पदार्थ के विनिमय से पदार्थ घटता है।

आत्मज्ञ

उस अनगर ने, निर्ग्रन्थ और, यति ने ज्ञान के क्षेत्र में इतना विकास किया कि वह सचमुच मुनि बन गया और इतना बड़ा ज्ञानी कि आत्मा को जानने वाला बन गया, आत्मज्ञ बन गया। उसके परिपार्श्व में अनेक नई बातें ज्ञात हुईं और इस मुनि की एक नई पहचान बन गई। ज्ञानी का सोचना और अज्ञानी का सोचना अलग-अलग होता है।

चीन में एक प्रथा है। दो पक्षों में जब संघर्ष हो जाता है, तब उससे निबटने में कठिनाई होती है। दोनों का अपना आग्रह होता है। चीन के बादशाह ने एक तरीका निकाला। दोनों को बाजार में आने का निमंत्रण दे दिया। दोनों पक्षों के सैकड़ों लोग एकत्रित हो गए, दो खेमे हो गए। मुख्य

संघर्षरत व्यक्तियों से कहा गया— दोनों बहस करें। जब तक निबटारा न हो तब तक बहस करें। शर्त यह है कि जिसको गुस्सा आ जाएगा, आवेश या आवेग आ जाएगा, वह हारा हुआ माना जाएगा। दोनों ओर से बहस प्रारम्भ हुई। घंटों बीत गए। सब शांतभाव से चर्चा कर रहे हैं। वातावरण शांत है। बहस होते होते संघर्ष का कांटा निकल गया और वे मित्र बन गए।

श्रामण्य का सार

जैन परम्परा में क्षमायाचना की बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। दो साधुओं के बीच कोई बात हो गई। एक ने क्षमा याचना कर ली, दूसरे ने नहीं की, तो आचार्य क्षमायाचना करने वाले को अच्छा मानेंगे और क्षमायाचना न करने वाले को दोषी। 'उवसमसारं खलु सामण्यं' श्रामण्य का सार है उपशम। मुनि इसका वाचक है।

मुनि होना, ज्ञानी होना बहुत जरूरी है। अज्ञान भयंकर होता है। मुनि सचाई को जानता है, अज्ञानी नहीं जानता।

नमस्कार महामन्त्र में मुनि को नमस्कार किया गया है, किसी नाम विशेष वाले मुनि को नहीं, केवल ज्ञानी को।

सिद्ध और साधु

इस नमस्कार महामन्त्र में दो ही व्यक्ति हैं—सिद्ध या साधु। 'णमो सिद्धाणं' में सिद्ध की अभिव्यक्ति है और शेष चार पदों में 'साधु' की अभिव्यक्ति है। अर्हत् भी साधु हैं। आचार्य, उपाध्याय और मुनि भी साधु ही हैं। दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो एक ही पद है—'साधु'। अर्हत् भी साधु है और सिद्ध भी पहले साधु ही हैं। उस अवस्था के बाद ही सिद्धि होती है। इस दृष्टि से साधु पद का कितना बड़ा महत्त्व है, साधना का कितना बड़ा महत्त्व है।

गृहस्थ क्यों नहीं ?

एक प्रश्न आता है कि कुछेक गृहस्थ भी बड़ी-बड़ी साधना करते हैं,

फिर उनका समावेश इस पांच परमेष्ठियों में क्यों नहीं ? इसका समाधान सरल है । परमेष्ठी की कक्षा में सम्मिलित वह हो सकता है, जो अनगार है, जिसका अपना कोई घर नहीं है । गृहस्थ घरवासी है, घरवासी की साधना सीमित होती है । दूसरी कसौटी है कि वह निर्ग्रन्थ हो, ग्रन्थि मुक्त हो । घर में रहने वाला ससीम होता है, ग्रन्थ सहित होता है । जो असीम की साधना करता है, वह होता है अनगार ।

ससीम में असीम का अवतरण

साधु ससीम नहीं होता, वह असीम होता है । नमस्कार महामन्त्र के निर्माता ने इसको ध्यान में रखकर ही पांचवें पद का निर्माण किया है । पहले चार पदों में 'सव्व' सर्व शब्द नहीं जोड़ा और पांचवें पद में उसे जोड़कर कहा—णमो लोए सव्व साहूणं । पूरे लोक में जितने साधु हैं, साधना करने वाले हैं, उनको मेरा नमस्कार । यह साधु की असीमता का वाचक है ।

अक्षरों की दृष्टि से विचार करें तो भी अन्तिम पद भारी बनता है । इसी पद में हैं नौ अक्षर । पहले पद में सात, दूसरे में पांच, तीसरे में सात, चौथे में सात अक्षर हैं । अन्तिम पद में हैं नौ ।

साधना का मूल जब असीम बन जाता है तब साधना का विकास होता जाता है । हम इस सचाई को मानें कि ससीम से असीम में आना वास्तव में असीम होने की दिशा का उद्घाटन करना है । ससीम में असीम के अवतरण का नाम है साधना ।

एसो पंच णमोक्कारो

मंगल भावना और मैत्री भावना—जीवन की महान् उपलब्धि है। व्यक्ति कितनी ही तपस्या करे, साधना और आराधना करे, यदि उसके अन्तःकरण में मंगल भावना और मैत्री भावना नहीं है तो सब व्यर्थ हो जाता है। नमस्कार महामंत्र मंगल है, मंगल की भावना का महामंत्र है। हम प्रातःकाल उठते ही मंगल की भावना करें, सबके प्रति मंगल भावना करें। मंगल भावना का विकास होता है तो विघ्नों का निवारण होता है।

मंगल है महामंत्र

इस दुनिया में सब प्रकार के तत्त्व हैं। कृष्णलेश्या भी है, शुक्ललेश्या भी है। रजोगुण भी हैं, तमोगुण और सत्त्वगुण भी हैं। उत्कृष्टतम अच्छाई भी है और निकृष्टतम बुराई भी है। इष्ट करने वाले तत्त्व भी हैं और अनिष्ट करने वाले तत्त्व भी हैं। हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, उसमें बाधा डालने वाले तत्त्वों की कमी नहीं है, इसलिए मंगल भावना जरूरी है और नमस्कार महामंत्र स्वयं मंगल है।

नमस्कार महामंत्र के संदर्भ में कहा गया— यह महामंत्र सब पापों का नाश करने वाला है और सब मंगलों में श्रेष्ठ मंगल है।

एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलम् ॥

पाप नाशक

प्रश्न हो सकता है—क्या एक मंत्र से पापों का नाश हो जाएगा ? एक

मंत्र से सब पापों का नाश कैसे हो सकता है ? हम इस प्रश्न को दूसरे पहलू से देखें— इस मंत्र में बचा क्या है ? जो अच्छाई है, वह सब कुछ इसमें समाविष्ट है । दुनिया में श्रेष्ठ है ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति । दुनिया में इससे अतिरिक्त कोई साधना-आराधना नहीं है, मंगल नहीं है । ज्ञान की उपासना, दर्शन की उपासना, आनन्द और शक्ति की उपासना—पाप को नष्ट करने का दुनिया में इससे अधिक कोई उपाय नहीं है । पाप क्या है ? सबसे बड़ा पाप है अज्ञान—अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः अदर्शन, दुःख और निर्वीर्य होना—सबसे बड़ा पाप है । इन पापों के नाश का सूत्र है— ज्ञान का विकास, दर्शन का विकास, आनन्द और शक्ति का विकास । इस संदर्भ में बिल्कुल ठीक कहा गया—एसो पंच णमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो— यह नमस्कार महामंत्र सब पापों का नाश करने वाला है । जितने पाप हैं, वे सारे इससे नष्ट हो जाते हैं ।

भारतीय दर्शन में सबसे बड़ा पाप माना गया है अज्ञान या अविद्या । किसी वेदान्ती से पूछा जाए— पाप क्या है ? उत्तर होगा—अविद्या । जैन दर्शन के विद्वान् से पूछा जाए—पाप क्या है ? उत्तर होगा—मिथ्या-दर्शन, अज्ञान । पाप तो यही है । झूठ, चोरी, हिंसा—ये पाप कहां हैं ? ये पाप के परिणाम हैं, फलश्रुतियां हैं । कारण है अविद्या, अज्ञान अथवा मिथ्यादर्शन । हिंसा प्रवृत्ति नहीं है, परिणाम है । झूठ प्रवृत्ति नहीं है, परिणाम है । यदि भीतर में अविद्या है, अज्ञान है तो हिंसा निकलेगी, झूठ की प्रवृत्ति होगी । यदि वह नहीं है तो न हिंसा की प्रवृत्ति होगी और न झूठ अथवा चोरी की घटना घटेगी ।

आत्मा की आराधना

नमस्कार महामंत्र की आराधना महान् साधना है । अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि— इस पंच परमेष्ठी की आराधना आत्मा की आराधना है । पाप क्या है ? आत्मा से दूर होते जाना, इसका मतलब है पाप । आत्मा के निकट आते चले जाना, इसका मतलब है धर्म । अमंगल होता है बाहर जाने में । जैसे-जैसे आदमी बाहर जाता है, दूसरों से प्रभावित होता है वैसे-वैसे अमंगल की स्थितियां बनती जाती हैं । जैसे-जैसे व्यक्ति भीतर

आता है, अपनी आत्मा में रहता है, वैसे-वैसे वह मंगल की परिधि में प्रवेश करता जाता है तब उसे कोई प्रभावित नहीं कर पाता । जैन इतिहास की प्रसिद्ध घटना है—मुनि सुदर्शन अपनी आत्मा में अवस्थित हो गए, कापालिक ने क्रूर दैवीशक्ति का प्रयोग किया, किन्तु वह सुदर्शन को प्रभावित नहीं कर सकी । अपने लक्ष्य में विफल उस शक्ति ने कापालिक को ही भस्म कर दिया ।

मंगल है आत्मा में होना

जो व्यक्ति आत्मा में है, उस पर कोई प्रभाव नहीं होता । जो बाहर है, आत्मा से दूर चला गया है वह शीघ्र प्रभावित हो जाता है । एक शब्द में कहा जा सकता है— आत्मा में होना मंगल है और आत्मा से बाहर चले जाना अमंगल है । सबका मंगल हो, इसका तात्पर्य है प्रत्येक आत्मा का मंगल हो । चाहे व्यक्ति छोटा हो या बड़ा, मंगल भावना सबके प्रति होनी चाहिए । छोटों की बड़ों के प्रति और बड़ों की छोटों के प्रति, आचार्य की शिष्य के प्रति और शिष्य की आचार्य के प्रति । जब शिष्य दीक्षित होता है, गुरु उसके मंगल भविष्य के लिए इन शब्दों में आशीर्वाद देते हैं—तुम ज्ञान से, दर्शन से, चरित्र और तप से, क्षान्ति और मुक्ति से सदा वर्धमान रहो—

नाणेण दंसणेण य, चरित्तेण तवेण य ।

खंतिए मुत्तीए, वड्डमाणो भवाहि य ॥

मंगल की सूचक हैं भावनाएं

यह मंगल भावना का मंत्र सबके लिए आवश्यक है, क्योंकि कोई व्यक्ति अकेला नहीं है, निरपेक्ष नहीं है, सब सापेक्ष हैं । संघ या समुदाय चलता है सापेक्षता से । अकेला आचार्य संघ को नहीं चला सकता, अकेला साधु संघ को नहीं चला सकता । सब इतने सापेक्ष हैं कि एक के बिना दूसरे का काम नहीं चलता । व्यक्ति स्वस्थ रहे, सुखी रहे, आनन्दमय रहे, विकास करता रहे, ये उदात्त भावनाएं जीवन के मंगल की सूचक हैं । जैन साहित्य में सोलह अनुप्रेक्षाएं—भावनाएं बतलाई गई हैं । सबसे पहले जो करणीय है, वह है मंगल की भावना ।

मंगल की स्मृति

नमस्कार महामंत्र मंगल है। इसकी स्मृति मंगल की स्मृति है। इस एक मंत्र के आधार पर कितने मंगल-मंत्र विकसित हुए हैं। नमस्कार महामंत्र से जुड़ा एक मंत्र है 'अर्हम्'। एक मंत्र है 'अ सि आ उ सा'। यह जयाचर्य का बहुत प्रिय मंत्र रहा है। नमस्कार से बना एक मंत्र है 'ओम्'। जैन आचार्यों ने 'ओम्' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है— अर्हत्, अशरीरी (सिद्ध) आचार्य, उपाध्याय, मुनि—इनके आद्यक्षर से निष्पन्न होता है—ओम्। इस प्रकार नमस्कार मंत्र से जुड़े हुए पचासों मंत्र हैं, जो विघ्नो का निवारण करते हैं, ग्रहों के प्रभाव से बचाते हैं।

विघ्ननिवारक

हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, उसमें अनेक प्रभाव हैं। प्रत्येक व्यक्ति को सौरमण्डलीय विकिरण प्रभावित करते हैं, इस भूमि के प्रकंपन प्रभावित करते हैं। जो व्यक्ति इन सबके बीच जीता है, पंच महाभूतों के साथ जीता है, पशु, पक्षी और मनुष्य से संकुल जगत् में जीता है, उस व्यक्ति के लिए विघ्न-निवारण के उपायों को जानना आवश्यक हैं जैसे यह कहा गया है— 'पदे पदे निधानि'— पद-पद पर निधान हैं। वैसे ही यह भी कहा जा सकता है— 'पदे पदे विघ्नानि'— पद-पद पर विघ्न है। जो विघ्न-निवारण का सूत्र जान लेता है, नमस्कार महामंत्र का आलंबन लेता है, वह विघ्न-बाधाओं को दूर कर अपनी जीवन-यात्रा को मंगलमय बना सकता है। दुनिया में जितने मंगल हैं, उनमें सबसे बड़ा और प्रथम मंगल है—नमस्कार महामंत्र। इस आगम-वचन का मूल्यांकन करें, नमस्कार महामंत्र की सम्यक् आराधना करें, अव्याबाध सुख और शान्ति का अनुभव होगा।

चत्तारि मंगलम्

अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साधु मंगलं, केवली पण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

मंगल सूत्र का दूसरा परिच्छेद है— मंगल पाठ । यह जैन परम्परा में सबसे अधिक प्रचलित मंगल सूत्र है । प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति के प्रारम्भ में इस मंगल सूत्र का उच्चारण और ध्यान किया जाता है । चार मंगल हैं— अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म । नमस्कार महामंत्र में जहां पंचपरमेष्ठी मंगल है, वहां इस मंगल सूत्र में चार मंगल हैं । अर्हत्, सिद्ध और साधु—तीन वे ही हैं, जो नमस्कार महामंत्र में हैं, एक धर्म इसमें और जुड़ गया । वास्तव में धर्म ही मंगल होता है । मंगल केवल एक धर्म ही है । अर्हत् इसलिए मंगल हैं कि वे स्वयं धर्म बन जाते हैं । सिद्ध इसलिए मंगल हैं कि वे धर्म की साधना करते-करते धर्म को स्वभाव में बदल लेते हैं । साधु इसलिए मंगल हैं कि वे धर्म की साधना करते हैं । वास्तव में एक ही मंगल है—धर्म । अधर्म है अमंगल और धर्म है मंगल । गौतम स्वामी ने केशी स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा—धर्म ही शरण है । धर्म ही द्वीप है आधार है, गति है, सब कुछ है । इस संसार में धर्म के सिवाय वास्तविक मंगल कोई भी नहीं है । पदार्थ औपचारिक मंगल होते हैं । पदार्थों को मंगल माना जाता है और वे कुछ मंगलमय वातावरण का निर्माण भी करते हैं । किन्तु जब हम सूक्ष्म जगत् में प्रवेश कर स्थिति का विश्लेषण करते हैं तो पता चलता है कि धर्म के सिवाय दूसरा कोई भी तत्त्व मंगल नहीं है ।

कौन सा धर्म ?

प्रश्न होगा कि कौन-सा धर्म मंगल है । जैन धर्म, बौद्ध धर्म, वैदिक

धर्म और ईसाई धर्म— ये बहुत सारे धर्म हैं और छोटे-मोटे धर्मों की तो कोई गणना ही नहीं है। ये धर्म तो बड़े माने जाते हैं, उपधर्मों की तो कोई गणना ही नहीं है। प्रश्न स्वाभाविक है कि कौन-सा धर्म मंगल है ? किसको मंगल मानें ? क्या जैन धर्म को मंगल मानें ? जैन लोग कहेंगे— जैन धर्म को अवश्य मंगल माना जाए। किन्तु दूसरे धर्म वाले कहेंगे— यदि जैन धर्म मंगल है तो वैदिक धर्म मंगल क्यों नहीं ? एक विवाद खड़ा हो जाएगा। भवान् महावीर ने एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण से धर्म का प्रतिपादन किया, जिसमें धर्म के साथ कोई विशेषण नहीं जुड़ता। उन्होंने कभी नहीं कहा— जैन धर्म मंगल है या सबसे प्रधान है। सच तो यह है कि महावीर के समय में 'जैन धर्म' जैसा कोई नाम था ही नहीं। यह नाम तो महावीर के निर्वाण के सात-आठ शताब्दियों के बाद प्रचलित हुआ है। उस समय इसको श्रमण धर्म या अर्हत् धर्म कहते थे, निर्ग्रन्थ प्रवचन कहते थे। निर्ग्रन्थ धर्म अर्थात् उन लोगों का धर्म, जिनके कोई ग्रन्थ नहीं है, कोई परिग्रह नहीं है, कोई गांठ नहीं है। इसका अर्थ होता है— आत्मा का धर्म। जब हम आत्मा का धर्म कहते हैं तो सारे विशेषण समाप्त हो जाते हैं। फिर यह विवाद नहीं होता कि कौन-सा धर्म मंगल है ? यानी वह धर्म मंगल है, जो आत्मा का धर्म है। धर्म वस्तुतः आत्मा से भिन्न हो ही नहीं सकता। यदि हम उष्णता को अलग कर दें और आग को अलग कर दें तो क्या बचेगा ? अग्नि तभी अग्नि है, जब तक उसमें गर्मी है, दाहकता है, जलाने की शक्ति है। पानी में निर्मलता है, शीतलता है तो पानी है। यदि उसमें से ठंडकपन को हटा दें तो फिर वह पानी कहाँ रह जाएगा ?

निर्मलता पानी का धर्म है, ताप अग्नि का धर्म है, वैसे ही आत्मा का भी अपना धर्म है और वह है—ज्ञान, आनन्द, शक्ति। शक्ति आत्मा का धर्म है, आनन्द और ज्ञान आत्मा का धर्म है, इसलिए कहा जा सकता है कि शक्ति मंगल है, ज्ञान मंगल है और आनन्द मंगल है।

मंगल शक्ति

पूछा गया— कौन सी शक्ति मंगल है ?

कहा गया— वह शक्ति मंगल है, जो दूसरों को उठाए। वह शक्ति मंगल नहीं हो सकती, जो दूसरों को पछाड़े। शक्ति के द्वारा दोनों काम किए जा सकते हैं—किसी को उठाया भी जा सकता है और किसी को पछाड़ा भी जा सकता है। पछाड़ने वाली शक्ति मंगल नहीं हो सकती। वही शक्ति मंगल हो सकती है, जो दूसरों को उठाने वाली है।

एक धर्म गुरु अपने प्रवचन में आहार-संयम पर बल देते हुए कह रहे थे— ‘धर्म का प्रारम्भ आहार के संयम से होता है। उपवास, ऊनोदरी, स्वल्प आहार तथा रस का परित्याग करो।’ आहार-संयम पर उन्होंने बहुत लम्बी चर्चा प्रस्तुत की। प्रवचन में बैठा एक आदमी उठकर खड़ा हुआ और बोला—‘महाराज ! आपने जो बात कही, वह समझ में नहीं आयी। आहार-संयम करने का मतलब होता है— शरीर को दुबला-पतला बना लेना। आपको पता है कि कुश्ती लड़ने वाला मल्ल कितना खाते हैं। एक मल्ल के नाशते की तालिका को यदि पढ़ा जाए तो आश्चर्य होगा। साधारण शरीर वाला आदमी तो सोच भी नहीं सकता कि इतना खाया जा सकता है ! खूब खाते हैं और व्यायाम करके शरीर को मजबूत बनाते हैं। आपके उपदेश की यह बात समझ में नहीं आती कि कम खाना चाहिए। कम खाने से तो शरीर कमजोर ही बनेगा और कमजोर शरीर किस काम का ?’

संन्यासी ने कहा—‘भाई ! मल्ल इतना खाता है, शरीर को मजबूत और ताकतवर बनाता है, बताओ, फिर क्या करता है ?’

‘दूसरों का पछाड़ देता है।’ जिज्ञासु आदमी झट बोल पड़ा।

‘मैं उस शक्ति को शक्ति नहीं मानता, जो दूसरों को पछाड़ती है, मैं तो यह चाहता हूँ कि व्यक्ति ऐसी शक्ति अर्जित करे जो दूसरों को पछाड़े नहीं, किन्तु दूसरों को उठाए। मल्लों का काम तो दूसरों को पछाड़ना है।’

वह शक्ति किसी काम की नहीं होती, जो दूसरों को पछाड़े। वह शक्ति ही मंगल है, जो दूसरों को उठाए। आज तक के इतिहास में यही मिलेगा कि उन्हीं लोगों ने सारी जनता को उठाने का, जगाने का प्रयत्न किया, जिन्होंने आहार-संयम किया। जिन्होंने इस रहस्य को समझा है कि भोजन की मात्रा को सीमित करके एक ऐसी निर्मल शक्ति पैदा की जा सकती है, जो दूसरों

को उठाने का काम करती है, दूसरों को पछाड़ने में कभी नहीं लगती। जिन लोगों ने खूब डटकर खाया, खाने को ही परम कल्याण समझा, उनकी शक्ति सदैव दूसरों को पछाड़ने में ही लगी रही। भोजन-भट्टों ने कभी भी दुनिया के लोगों को उठाने का प्रयत्न नहीं किया, संकल्प भी नहीं किया। उनमें ऐसी ताकत भी नहीं आती, जो औरों को उठा सके। उन लोगों में सात्विक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने आहार का संयम करना सीखा, भोजन का नियन्त्रण सीखा, अपनी जीभ की लोलुपता को वश में किया। उनमें जो शक्ति जागी, वही शक्ति वास्तव में मंगल होती है।

‘अरहंता मंगल’—अर्हत् इसलिए मंगल हैं कि उनमें अनन्त शक्ति जाग जाती है, असीम शक्ति जाग जाती है। जब तक हम पदार्थ की सीमा से बंधे हुए हैं, पदार्थ की लोलुपता के साथ जुड़े हुए हैं, तब तक अनन्त शक्ति का जागरण नहीं हो सकता। यह अनन्त और असीम शक्ति तब जागती है, जब हम अपने चैतन्य की सूक्ष्म शक्ति के साथ जुड़ जाते हैं। आज की हमारी बड़ी समस्या है कि हम स्थूल के साथ जुड़े हुए हैं, सूक्ष्म के साथ हम नहीं जुड़ते। हमारा एक बहुत विशाल जगत् है—सूक्ष्म जगत्, जिसे हम नहीं जानते। हम केवल स्थूल के साथ अपनी गाड़ी को घसीटे चले जा रहे हैं। आश्चर्य तो इस बात का होता है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में भी हम अपनी दृष्टि को सूक्ष्म नहीं बना रहे हैं। जहां परमाणु का विस्फोट हो चुका, जहां सौर मंडल की रश्मियों का विश्लेषण हो चुका और उनके प्रभावों का वर्णन हो चुका, फिर भी हम सूक्ष्म की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं। एक बार सूर्य ग्रहण होने वाला था। सैकड़ों वैज्ञानिक उस ग्रहण का अध्ययन करने में जुटे हुए थे। विदेशों से सैकड़ों-सैकड़ों वैज्ञानिक उन देशों में पहुंच गए जहां कि पूरा ग्रहण होने वाला था। ग्रहण के प्रभावों का कितनी सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाता है। पूरे ग्रहण के कितने प्रभाव होते हैं, किस प्रकार की रश्मियां आती हैं, किस प्रकार किरणों का विकिरण होता है और किस प्रकार मनुष्य उनसे प्रभावित होते हैं। निष्कर्ष निकाला गया— वे लोग ज्यादा प्रभावित होते हैं, जिनका मस्तिष्क पहले से ही थोड़ा अस्त-व्यस्त या विकसित होता है। गर्भवती स्त्रियों पर ज्यादा प्रभाव पड़ता है। लोगों की यह धारणा

है कि ग्रहण को प्रत्यक्ष या खुली आंखों से नहीं देखना चाहिए, थाली में पानी भरकर उसमें देखा जा सकता है। किन्तु उस ग्रहण के बारे में तो यह जानकारी मिली थी कि पानी में भी इसको नहीं देखना चाहिए। संभव है कि उससे दृष्टि क्षीण हो जाए। सूक्ष्म जगत् में, हमारे आस-पास में किस प्रकार की घटनाएं घटित होती हैं, उन घटनाओं पर हम ध्यान नहीं देते, केवल स्थूल दृष्टि से माप लेते हैं।

केवल स्थूल सत्तों में आस्था रखने वाला व्यक्ति सम्यक्दृष्टि नहीं हो सकता। सम्यक् दृष्टि होने का अर्थ है—स्थूल और सूक्ष्म दोनों के प्रति समान दृष्टि बन जाए। हम केवल यह मान कर न चलें कि यह शरीर ही हमारा अस्तित्व है। हम यह मानकर चलें कि इस शरीर से परे भी हमारा अस्तित्व है। यदि यह दृष्टि जाग जाए, अपने सूक्ष्म शरीर की दृष्टि साफ हो जाए तो दृष्टिकोण सम्यक् बन जाता है।

मंगल आनंद

दूसरी बात है—आनन्द मंगल है। आनन्द स्वयं मंगल है, सुख स्वयं मंगल है, किन्तु यह ऐकान्तिक बात नहीं है। कुछ लोगों का आनन्द दूसरों के लिए अभिशाप बन जाता है। जिनका आनन्द दूसरों के लिए अभिशाप बन जाए, जिनका सुख दूसरों के लिए दुःख का कारण बन जाए, वह मंगल नहीं होता। मंगल वह होता है, जो दूसरों के लिए अभिशाप न बने, दूसरों के लिए दुःख और समस्या न बने। आदमी को दान से सुख मिलता है और वह मानता है कि धन सबसे बड़ा सुख है। किन्तु धन मिला, समृद्धि बढ़ी तो वह दूसरों के लिए दुःख का कारण बन गया। एक धनवान व्यक्ति का नौकर अपने सेठ के घर से कचरा निकालता और पड़ोसी के दरवाजे के सामने जाकर डाल देता। उसने धनवान् पड़ोसी से शिकायत की कि यह तो अच्छी बात नहीं है। सेठ ने कहा—अच्छा बुरा क्या होता है, यह तो करने वाला जाने, नौकर की बात नौकर जाने। ऐसी धौंसपट्टी जमाई कि बेचारा कुछ बोल ही नहीं पाया। करता भी क्या? वह लड़ तो सकता नहीं था। चुप हो गया। ऐसी समृद्धि जो स्वयं को सुख दे और दूसरों के लिए कठिनाई बन जाए,

समस्या बन जाए, किसी काम की नहीं हैं। अपनी समृद्धि को कोई बांटता नहीं, अपने आनन्द को बांटता नहीं, किन्तु अपने अहंकार और दुःख को हर कोई दूसरों में बांटना चाहता है। दुःख को दूसरों में बांटने वाले बहुत मिलते हैं, मिटाने वाले कम। शायद इस पदार्थ जगत् में होने वाले आनन्द का सिद्धान्त ही यह है कि दूसरों के कंधों पर बन्दूक रखकर गोली छोड़ी जाए। यह सामान्य सिद्धान्त बन गया है आज का।

यह सम्पदा, सम्पत्ति हमेशा दूसरों के आधार पर होती है। आज भारतीय लोगों की समस्या है कि नौकर नहीं मिलते। अरे, दो हाथों से काम लो। उपनिषद् में ऋषियों ने कहा है—जिनके पास बीस अंगुलियां होती हैं, उनको किसी बात की चिन्ता नहीं होती। आज जब हमने अपने आप को ही भुला दिया तब अपनी अंगुलियों पर भरोसा कैसे होगा? आज यह भरोसा नहीं रहा। हर आदमी को नौकर चाहिए और नौकर महंगे व दुर्लभ होते जा रहे हैं।

सम्पदा के साथ जुड़ा हुआ है—दूसरों का दुःख। पदार्थ के साथ-साथ होने वाले सुख, समृद्धि और आनन्द की गाथा यही रही है कि दूसरे उससे छोटे एवं दुःखी होने चाहिए। मंगल वह आनन्द होता है, जहां समृद्धि के लिए दूसरों को गरीब न बनाना पड़े, अपने ऐश्वर्य और प्रभुत्व के लिए दूसरों को नीचा न दिखाना पड़े।

आचार्य भिक्षु जंगल में पेड़ के नीचे बैठे थे। एक भाई उधर से गुजरा देखा, कोई साधु पेड़ के नीचे बैठा है। प्रणाम किया और पूछा—‘महाराज! आपका क्या नाम है?’

‘मेरा नाम भीखण है।’

‘भीखण जी आप ही हैं। वही तेरापंथी भीखण? मेरे मन में तो एक दूसरी ही तस्वीर थी आपकी। मैंने तो आपकी बड़ी महिमा, यश और कीर्ति सुनी थी। सोचता था—कितने हाथी, घोड़े, रथ तथा सेवक आदि साथ में रहते होंगे आपके। पर आप तो इस निर्जन एकान्त में अकेले ही दिखाई दे रहे हैं। सारी तस्वीर खण्डित हो गई।’

आचार्य भिक्षु ने कितनी प्रार्थिक बात कही। उन्होंने कहा—‘मैं अकेला

हूं, तभी यह प्रशंसा है। मेरे पास कोई आडम्बर नहीं है, इसीलिए इतना नाम है।'

हम लोग एक दिन गोचरी के लिए गए। एक छोटे बच्चे ने हाथ में बिस्कुट ले रखा था। आग्रह करने लगा तो मैंने पूछा, 'बताओ, तुम खाओगे या दोगे?'

'दूंगा।'

हमने कहा, 'तों फिर एक दे दो।'

'नहीं, सब दूंगा।'

माता ने कहा, "जब तक इसके हाथ के सब बिस्कुट नहीं ले लेंगे, यह रोएगा, मानेगा नहीं।"

मेरे मन में एक चिन्तन आया— यह दान वह दान नहीं है, जहां देने वाले का हाथ ऊंचा और लेने वाले का हाथ नीचा रहे। यह वह दान है, जहां लेने वाला अपने आपको धन्य नहीं मानता, किन्तु देने वाला देकर अपने आपको धन्य मानता है, कृतार्थ मानता है। बहुत बड़ा अन्तर है। एक आदमी देता है और देते समय उसका अहंकार इतना जाग जाता है कि अपने आपको धन्य और लेने वाले को तुच्छ मान लेता है। साधु को दिया जाने वाला दान किसी त्यागी-तपस्वी को दिया जाने वाला दान ऐसा दान, नहीं होता कि देने वाला अपने आपको बहुत बड़ा दानी और अहंकारी माने। उसे अपने को धन्य मानना चाहिए, कृतार्थ मानना चाहिए और उसमें यह भावना जागृत होनी चाहिए कि ऐसा दान देकर मैं सफल हो गया, कृतकृत्य हो गया। वह समृद्धि, वह आनन्द जो दूसरों को हीन न बनाए, दूसरों को छोटा न बनाए, सचमुच मंगल है।

मंगल ज्ञान

तीसरी बात है—ज्ञान मंगल होता है। ज्ञान वह मंगल होता है, जो दूसरों के चैतन्य को जगा दे। दीया बुझे नहीं, जग जाए। आचार्य की एक विशेषता अनुयोगद्वार सूत्र में बतलाई गई है कि जैसे एक दीप से हजारों दीप जल जाते हैं, उसी प्रकार आचार्य वह होता है, जिसके ज्ञान से हजारों दीपक

जल जाते हैं। दीप को जलाएं, बुझाएं नहीं। वह प्रकाश, वह ज्ञान अच्छा नहीं होता, जो केवल अकेला चमके, सबको छिपा दे। आचार्य तुलसी की सबसे बड़ी महानता यही है कि वे अकेले नहीं चमके, पूरे संघ को चमकाने के साथ-साथ चमके हैं। इतिहास में ऐसा हुआ है। कोई एक मुखिया हो गया तो फिर उसका यही प्रयत्न होता है कि दूसरा और कोई नाम उभरकर न आए, सबको पीछे ही धकेलने की कोशिश। ऐसे अनेक व्यक्ति हमें भी यही सलाह देने पहुंच जाते हैं। वे कहते हैं, 'महाराज ! ध्यान दो, आप इतने साधु-साध्वियों को पढ़ा रहे हैं, किन्तु एक दिन ये ऐसे सिर पर हावी हो जाएंगे कि आप पश्चात्ताप करेंगे। नीति की बात तो यह है कि एक आचार्य या कुछ प्रमुख साधु पढ़ गए, बाकी को तो पात्ररा ढोने के काम में ही लगाए रखो, जिससे कि ठीक-ठाक काम चलता रहे।' ऐसे सुझाव एक नहीं, अनेक बार आए हैं। एक दृष्टि से सोचें तो यह ठीक है। राजनीति की दृष्टि से तो यह ठीक है कि जनता को इतना बेवकूफ बनाए रखो कि वह अपने-अपने अधिकारों की मांग न कर सके। कुर्सी बची रहे और राज्यसत्ता कायम रहे। किन्तु इस प्रकार का चिन्तन सर्वथा अनुचित है। वास्तव में वही व्यक्ति महान् होता है, जो स्वयं के साथ-साथ दूसरों को भी चमकाता है।

वही ज्ञान मंगल होता है, जो दूसरों को जगाए, बुझाए नहीं। वही आनन्द मंगल होता है, जो दूसरों में दुःख न बांटे बल्कि उनमें आनन्द बिखेरे। वही शक्ति मंगल होती है, जो दूसरों के लिए पीड़ाकारक न बने। इसीलिए हम 'चत्तारि मंगलं' सूत्र को मंगल मानते हैं और प्रवृत्ति के प्रारम्भ में इस महामंगल का उपयोग करते हैं।

चत्तारि सरणं पवज्जामि

दर्शन की दो धाराएं हैं—ईश्वर-कर्तृत्ववादी धारा और आत्म-कर्तृत्ववादी धारा । ईश्वर कर्तृत्ववादी धारा से भक्तिवाद का विकास हुआ और उसमें शरणागत की बात को महत्त्व मिला । आत्म-कर्तृत्ववादी धारा में आत्मा ही कर्ता है, दूसरा कोई कर्ता नहीं होता । वहां शरण का प्रश्न ही नहीं उठता ।

एक प्रश्न सामने आता है कि जैन और बौद्ध आत्म-कर्तृत्ववादी हैं तो फिर उनमें शरणागत की बात कैसे आई ?

भगवान् महावीर ने कहा—‘नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा । तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा’ —आत्मन् ! माता, पिता, भाई, बहिन आदि कोई भी तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं । तुम भी उनको त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो । जब परिवार वाले भी त्राण देने में समर्थ नहीं हो सकते तो दूसरा कौन त्राण दे सकता है ?

संबंध हैं स्वार्थ सापेक्ष

यथार्थ और निश्चय की भाषा में सोचें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे सारे सामाजिक या पारिवारिक संबंध स्वार्थ-सापेक्ष हैं । जब तक स्वार्थ का धागा जुड़ा रहता है तब तक संबंध बना रहता है, सहयोग चलता रहता है । जिस दिन स्वार्थ में कमी आती है, सापेक्षता कम होती है तब सारा संबंध टूट जाता है । स्वार्थ और सापेक्षता को न समझना, बहुत बड़ा धोखा है । सुरापान करने वाला व्यक्ति जितना धोखा खाता है, उससे अधिक धोखा खाता है स्वार्थ और सापेक्षता को न समझने वाला ।

एक सुरापानी सड़क पर घूम रहा था । सिपाही ने कहा— ‘अरे ! इतना समय हो गया तुमको यहां घूमते, अपने घर क्यों नहीं चले जाते ?’ वह बोला— तुम्हें पता नहीं है । मैं क्या, सारा नगर घूम रहा है । जिस समय मेरा घर

मेरे सामने आयेगा, मैं उसमें घुस जाऊंगा। मेरे घर को आ जाने दो।'
कितना बड़ा भ्रम ! कितना बड़ा धोखा !

शरण है आत्मा

हमारे सारे सामाजिक या पारिवारिक संबंध स्वार्थ-सापेक्ष हैं। यह प्रत्यक्ष सत्य है। इसे नकारा नहीं जा सकता। हम भी शराबी की भांति मूर्च्छा में जीते हैं और मान लेते हैं कि घर मुझे त्राण देगा। मेरे लिए वह शरण है। घर का पर्यायवाची शब्द है शरण। घर और शरण एक ही है। आत्म-कर्तृत्ववादियों ने इस भ्रान्ति को तोड़ा और कहा—शरण कोई नहीं है। शरण है केवल आत्मा। उनका घोष रहा—‘अप्पा कत्ता विकत्ता य।’ ‘अप्पदीवो भव’ आत्मा ही शरण है, आत्मा ही प्रकाशदीप है।

साधना के क्षेत्र में, आत्माराधना के क्षेत्र में जिस व्यक्ति ने एकत्व को मानकर अपनी साधना शुरू नहीं की, वह धोखे में रहेगा, उसे अनेक कठिनाइयां झेलनी पड़ेंगी। अध्यात्म की यह अंतिम सचाई है— ‘न मैं किसी का हूं और न मेरा कोई है। न मैं किसी का शरण हूं और न मेरा कोई शरण है।’ व्यवहार में सापेक्षता से जुड़ा है व्यक्ति, एक दूसरे का काम एक दूसरे से चलता है। पारस्परिक सहयोग से सारे काम निष्पन्न होते हैं। यह व्यवहार की सचाई है। इसे निश्चय की सचाई नहीं माना जा सकता।

यह अनुभव अनेक बार होता है। दो व्यक्ति पचास वर्ष तक साथ रहे, और एक दिन ऐसा आया कि वे एक दूसरे से अलग हो गए। आश्चर्य होता है, यह कैसे घटित हुआ ? क्यों हुआ ? यह स्वार्थ-संवलित सापेक्षता थी। स्वार्थ विघटित हुआ और सापेक्षता विघटित हो गई। अंतिम सच है— अकेला होना, एकाकी जीवन जीना। यह अत्यंत सुखद घटना है और पदार्थ-जगत् में इससे बड़ी सुखद घटना दूसरी हो नहीं सकती।

शरणभूत कौन ?

मूल प्रश्न है—जैन परंपरा में शरणागत की बात कैसे जुड़ी ? वीतराग को शरण प्रदाता क्यों माना गया ? यह प्रश्न उचित है। इसका एक प्रयोजन है— राग-द्वेष से द्विष्ट व्यक्ति कभी भी शरण देने योग्य नहीं हो सकता। उसकी शरण खतरे से खाली नहीं होती। पता नहीं, कब कैसा मोड़ ले ले ? जो

राग-द्वेष से मुक्त है, उसकी शरण लेने में कोई खतरा नहीं है। यदि आत्म-कर्तृत्ववादियों के लिए कोई शरणभूत—आधारभूत हो सकता है तो वह वीतराग पुरुष ही हो सकता है। इसका रहस्य है—निरपेक्षता। वीतराग के साथ व्यक्ति का जो संबंध होता है, वह सापेक्ष नहीं है। वीतराग किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता।

वस्तुतः शरण या आधार वही हो सकता है जो वीतराग है, राग-द्वेष से मुक्त है, निरपेक्ष है। इसलिए शरण के पीछे दो शर्तें रखी गईं। पहली शर्त है—जो मंगल है, वही शरण होगा। अमंगल कभी शरण लेने योग्य नहीं होता। दूसरी शर्त है—शरण वह होगा, जो लोक में उत्तम है। अनुत्तम कभी शरण नहीं हो सकता। उत्तम का अर्थ है—प्रबलतम। प्रबलतम वह होता है, जो शिखर पर पहुंच गया है। दो बातें स्पष्ट हो गईं कि जो मंगल है, जो लोक में उत्तम है, वही शरण है।

मंगल है आत्मा

अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म—ये चार मंगल हैं, उत्तम हैं इसीलिए व्यक्ति इन चारों की शरण स्वीकार करता है। अर्हत् वीतराग है इसलिए मंगल हैं। सिद्ध सर्वथा आत्मा है, केवल आत्मा। आत्मा से बढ़कर आत्मवादी के लिए कोई मंगल नहीं हो सकता। आत्मवादी का परम मंगल है आत्मा। सिद्ध और आत्मा—दो नहीं हैं। चाहे सिद्ध कहो, चाहे आत्मा कहो, कोई अन्तर नहीं है। आत्मा का नाम ही सिद्ध है और सिद्ध का नाम ही आत्मा है। साधु को भी मंगल माना गया है। साधु का मंगल अध्यात्म का मंगल है। साधु साधना का प्रतीक है। जो साधना में, आत्मा में रहता है, रहने की कोशिश करता है। वह है साधु। धर्म मंगल है। धर्म आत्मा का स्वरूप है। आत्मा को छोड़कर कोई मंगल नहीं है। जैन दर्शन की भाषा में, जैन आचार शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाए तो एक मात्र मंगल है आत्मा। जहां आत्मा अनात्मा हुआ, वहां अमंगल हो गया। द्रव्य मंगल, लौकिक मंगल की बात छोड़ दें। सबसे बड़ा मंगल धर्म है। इस आधार पर इसका प्रयोग किया जा सकता है। कोई भी कार्य करना है, मुहूर्त हो या न हो, आत्मा में रमण कर, आत्मा की अनुभूति करता हुआ काम करे तो वह मंगल हो जाएगा। परम्परा रही है कि यात्रा करनी है और शकुन नहीं हो रहा है, मुहूर्त नहीं मिल रहा है

तो कायोत्सर्ग करो । और कायोत्सर्ग में कोई बाधा न आए तो समझो कि मंगल हो गया ।

उत्तम कौन ?

आत्मा ही उत्तम है । आत्मा के सिवाय कोई उत्तम नहीं हो सकता, प्रबलतम नहीं हो सकता । एक पदार्थवादी के लिए पदार्थ वस्तु परम हो सकती है, उत्तम हो सकती है । पदार्थवादी के लिए सोना उत्तम हो सकता है पर आज सोने से भी ज्यादा कीमती धातुएं आ गईं । सोना पुराना पड़ गया । आज नई धातुएं इतनी कीमती हैं कि सोना उनके सामने कुछ भी नहीं है । यूरैनियम के सामने सोने का क्या मूल्य है ? सोने से ज्यादा कीमती है हीरा । हीरा उत्तम हो गया । आज हीरे से भी ज्यादा कीमती और मंहगा हो गया है मणि अर्थात् लाल । यह है पदार्थ का स्वरूप । पदार्थ मूल्य-सापेक्ष होता है । बदलते मूल्यों के साथ पदार्थ की उत्तमता भी बदलती रहती है । किन्तु आत्मवादी के लिए सबसे बड़ा उत्तम है आत्मा । अर्हत् उत्तम हैं, क्योंकि वह आत्मा है । सिद्ध उत्तम है, क्योंकि वह आत्मा है । साधु उत्तम है क्योंकि वह आत्मा है और धर्म उत्तम है, क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप है ।

जब आत्मा ही मंगल और आत्मा ही उत्तम है तो किसकी शरण में जाना चाहिए ? सीधा-सा और सरल-सा उत्तर होगा—**अप्पाणं सरणं गच्छामि**—आत्मा की शरण ग्रहण करता हूं । अर्हत् की शरण में जाने का अर्थ है अपनी आत्मा की शरण में जाना । सिद्ध और धर्म की शरण में जाने का अर्थ है अपनी आत्मा की शरण में जाना ।

तीनों पदों—मंगल, उत्तम और शरण का निष्कर्ष क्या होगा ? तात्पर्य क्या निकलेगा ? दुग्धस्य सारं नवनीतं,—दूध का सार है घी, नवनीत । **पुष्पस्य सारं परिमलं**—फूल का सार है परिमल । इसी तरह मंगल, उत्तम और शरण का सार होगा—आत्मा की शरण लेना । वही व्यक्ति सही अर्थ में धार्मिक हो सकता है, जो आत्मा की शरण में रहता है ।

भ्रान्त चिन्तन

कुछ प्रबुद्ध व्यक्ति आए । बोले—महाराज ! एक प्रश्न अनेक बार उभरता रहता है कि दुनिया में इतने अहिंसक, इतने धार्मिक लोग हैं फिर भी उतना

ही भ्रष्टाचार, उतनी ही बुराइयां और हिंसा बढ़ती जा रही है। दुनिया धर्म स्थानों और धार्मिकों से भरी पड़ी है फिर भी यह क्यों ? मैंने कहा कि यह मानना भी एक भ्रान्ति है कि इतने धार्मिक और इतनी हिंसा, बुराइयां और भ्रष्टाचार। उन्होंने कहा—भ्रान्ति कहां है ? ईसाइयों के अनुयायी एक अरब से ज्यादा हैं, मुसलमान होंगे सत्तर-अस्सी करोड़, बौद्ध होंगे पचास करोड़। इसी प्रकार हिन्दु, जैन आदि भी करोड़ों में हैं। ये सब धार्मिक लोग हैं। मैंने कहा—यही भ्रान्ति है। यह संख्या धार्मिकों की नहीं, धर्म के अनुयायियों की है। धर्म का अनुयायी होना अलग बात है और धार्मिक होना बिल्कुल अलग बात है। धर्म का अनुयायी होना तो भीड़ है। महावीर के अनुयायियों की संख्या भी बहुत बड़ी हो सकती है लेकिन धार्मिकों की संख्या कितनी है ? भगवान् महावीर के श्रावक धार्मिक थे। आनन्द धार्मिक था, कामदेव धार्मिक था। ये धर्म के अनुयायी नहीं थे लेकिन धार्मिक थे। अनुयायी सिर्फ वोट होते हैं। जिस तरह राजनीतिक पार्टी में दो तरह के सदस्य होते हैं। एक सक्रिय कार्यकर्ता होते हैं और एक पार्टी के सदस्य। सदस्य मात्र वोट देने का काम करते हैं। अनुयायी केवल उस सम्प्रदाय की संख्या बढ़ाने का काम करते हैं। धार्मिक तो वह होगा, जिसने धर्म को जीवन में उतारा है।

ज्यादा हैं सुलभ बोधि

वस्तुतः वह जैन श्रावक है, जिसने बारह व्रतों को स्वीकारा है। जिसने बारह व्रतों को नहीं स्वीकारा, उसे श्रावक नहीं कहा जा सकता। वह 'संज्ञी' कहलाता है। संज्ञी का अर्थ है—सम्यग्दृष्टि। तीसरा है—यथाभद्रक। वह धर्म को नहीं समझता, सीधा और सरल है। चौथा है—सुलभबोधि—वह भी धर्म के मर्म को नहीं समझता, पर उसमें धर्म के प्रति अनुराग है। दूसरे शब्दों में सुलभबोधि को धर्म का अनुयायी कहा जा सकता है। संसार में ज्यादा संख्या सुलभबोधि लोगों की हैं अर्थात् धर्म के अनुयायियों की है, धार्मिकों की नहीं। संसार की आबादी है पांच अरब। इनमें से धार्मिक कितने होंगे ? पांच अरब में यदि एक करोड़ धार्मिक भी मिल जाएं तो बहुत बड़ी बात माननी चाहिए। मैं तो मानता हूँ कि वास्तविक धार्मिक लोग यदि एक लाख भी मिल जाएं तो दुनिया का बड़ा सौभाग्य समझना चाहिए। बहुत कठिन है धार्मिक होना। धार्मिक और धर्म के अनुयायियों के बीच की यह भेदरेखा

हमारे सामने स्पष्ट हो तो शायद बहुत सारी भ्रान्तियां अपने आप खत्म हो सकती हैं ।

धर्म है अपनी शरण

अपनी शरण में जाने का अर्थ है— धार्मिक होना । वही व्यक्ति धार्मिक हो सकता है, जिसने अपनी शरण ली है । जिसने अपनी शरण में जाने का अर्थ नहीं समझा, वह धार्मिक नहीं हो सकता, धर्म का अनुयायी हो सकता है । ऐसे धर्म के अनुयायी लोग धर्म के नाम पर पता नहीं क्या क्या करते हैं ? आज धर्म के नाम पर क्या नहीं हो रहा है । धर्म एक उपभोग्य वस्तु बना ली गई है । धर्म नहीं है इसलिए धर्म के नाम पर बहुत कुछ चलता है, चलता रहता है । यदि धर्म जीवन में आ जाए तो सारा का सारा कचरा अपने आप निकल जाएगा, बाहर की बेकार बातें अपने आप दूर हो जाएंगी ।

लाख रुपए किस लिए

एक लड़के ने अपने मित्र से कहा—‘मेरे पिताजी ने मेरे सामने एक प्रस्ताव रखा है ।’

‘क्या प्रस्ताव है वह ?’

‘पिताजी कहते हैं कि यदि तुम बुराई छोड़ दो तो मैं तुम्हें एक लाख रुपया दे दूँ । लेकिन बुराई बिल्कुल छोड़नी पड़ेगी । मैंने प्रस्ताव ठुकरा दिया ।’

मित्र ने कहा—‘तुमने बड़ी मूर्खता की । एक लाख रुपया किसे कहते हैं । बहुत बड़ी बात है । तुम्हें ले लेने चाहिए ।’

लड़के ने मित्र को समझाने की कोशिश करते हुए कहा—‘लेकर क्या करूँ ? अगर बुराई छोड़ दूँ तो लाख रुपए का फिर उपयोग ही क्या होगा मेरे लिए ? शराब है तो ये सारी मांगें हैं । शराब छोड़ दूँ तो फिर कोई मांग होगी ही नहीं । और कोई मांग न हो तो फिर लाख रुपए का क्या करूंगा । व्यर्थ का बोझ क्यों उठाऊँ ।’

कैसा विचित्र विरोधाभास है पर सचाई यही है । लाख रुपया कोई लेना नहीं चाहता, क्योंकि लाख रुपया ले तो फिर सब कुछ छोड़ना पड़ता है और वह छोड़ना नहीं है । पदार्थ से, विभाव से इतना अनुबन्ध हो गया कि वह छूट नहीं रहा है और आत्मा या धर्म को इसीलिए आदमी पकड़ नहीं पा रहा है ।

यथार्थ को देखें

इन सारे संदर्भों में देखें तो जैन तीर्थङ्करों ने एक नया दर्शन दिया है। उन्होंने कहा— सचाई को सामने रखकर चलो, सचाई को झुठलाओ मत। हमारी भक्ति के पीछे भी यथार्थ खड़ा रहे। इसीलिए कहते हैं अन्ध भक्ति नहीं होनी चाहिए। यथार्थ को छोड़कर हमारी भक्ति नहीं होनी चाहिए। इसी दृष्टिकोण के कारण जैन दर्शन यथार्थवादी दर्शन है।

बहुत लोगों को मैंने देखा है, जो सामने तो प्रशंसा के ऐसे पुलिन्दे बांधते हैं कि सुनकर आश्चर्य होता है। और उन्हीं व्यक्तियों को परोक्षतः निन्दा करते हुए सुना तो भरोसा नहीं हो सका कि यह वही आदमी है। भीतर और बाहर में इतना बड़ा व्यवधान चलता है, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह सारा क्यों होता है? जब तक आत्मा की शरण में जाने की बात समझ में नहीं आती तब तक व्यवहार का भी शोधन नहीं होता, व्यवहार में एकरूपता नहीं आ सकती।

मंगल पाठ का मर्म

शरण की बात महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म में भी कहा गया—‘बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि’। जैन धर्म में भी ‘शरणं पवज्जामि’ का घोष प्रतिपादित हुआ। जैन दर्शन ने कहा—‘शरण लो लेकिन सचाई को याद रखो, निश्चय को मत भुलाओ ‘मैं अकेला हूँ, वास्तव में अकेला हूँ, और अकेला रहूँ तभी सुखी रहूँगा।’ आचार्य भिक्षु ने भी यही कहा—संघ में रहते हुए भी अकेले रहना। दोनों बातें चलें। संघ में हूँ, यह मेरा व्यवहार है और अकेला हूँ, यह मेरा निश्चय है। दोनों का योग करके हमें चलना है। मंगलपाठ में निश्चय और व्यवहार—दोनों के सूत्र हैं इसीलिए हर कोई यात्रा करने वाला व्यक्ति मंगलपाठ सुनना चाहता है। वह चाहता है कि अर्हत, सिद्ध आदि सभी मंगल मेरे साथ रहें।

मंगल -पाठ का यह हार्द, निश्चय और व्यवहार में समन्वय के संतुलन की भावना, हमारे सामने स्पष्ट रहे तो जीवन मंगलमय बनेगा।

केवल यात्रा के समय, केवल प्रवचन की समाप्ति के बाद ही मंगलपाठ न सुनें। यह मंगलपाठ यदि हम निरन्तर सुनते रहें, चौबीस घण्टा यह ध्वनि यदि हमारे कानों में गूँजती रहे तो वास्तव में हमारा जीवन सुखी बनेगा शायद हम दूसरों के लिए भी मंगल एवं कल्याण की बात प्रस्तुत कर सकेंगे।

आवश्यक

सामायिक

हजारों लोग जिसकी प्रतिदिन आराधना करते हैं, क्या उसके बारे में भी चर्चा आवश्यक है ? जैन श्रावक-श्राविकाएं प्रतिदिन सामायिक करते हैं, अपने बच्चों को भी वे सामायिक की प्रेरणा देते हैं। प्रश्न है—वह सामायिक क्या है ? फिसे कहते हैं सामायिक ? सामायिक स्वीकार करते समय एक श्रावक-बोलता है— **करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि ।** एक साधु सामायिक स्वीकार करता है तो प्रतिज्ञा करता है— **सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि ।** सावद्य योग के प्रत्याख्यान का नाम है सामायिक । सावद्य योग है विषमता और सावद्य योग का प्रत्याख्यान है सामयिक या समता ।

साधना का सुन्दर सूत्र

सावद्य योग की परिभाषा बहुत स्पष्ट है । अठारह पाप सावद्य हैं । इन अठारह पापों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

पहला वर्ग— प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह ।

दूसरा वर्ग— क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष ।

तीसरा वर्ग— कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति ।

चौथा वर्ग— माया-मृषा और मिथ्यादर्शन शल्य ।

इन चार वर्गों में अठारह पाप समाहित हो जाते हैं ।

हम विचार करें— सामायिक करने वाला क्या छोड़ता है ? पांच आश्रव— प्राणातिपात आदि को छोड़ता है । क्रोध, मान, माया, लोभ और राग-द्वेष को छोड़ता है । यदि इस अर्थ का ध्यान हो तो सामायिक करते समय एक स्पष्ट चित्र बनेगा कि मैं क्या कर रहा हूं । मैं क्रोध को उपशान्त करने की

साधना कर रहा हूँ। मैं अहंकार को शांत करने की साधना कर रहा हूँ। माया और लोभ को मिटाने की साधना कर रहा हूँ। फिर उसे ध्यान आएगा— मैं कलह से मुक्त होने की साधना कर रहा हूँ। ...शल्य मुक्ति की साधना कर रहा हूँ। साधना के इस सुन्दर सूत्र का नाम ही सामायिक है।

आवश्यक है अर्थ बोध

बहुत सारे लोग सामायिक करते हैं, किन्तु इस ओर ध्यान नहीं देते कि वे क्या कर रहे हैं। जब कुछ करते हैं तब यह पता तो होना ही चाहिए कि क्या कर रहे हैं? अगर इस पर ध्यान नहीं दिया जाएगा तो उस तोते की सी स्थिति होगी, जो अफीम के डोंडे पर चोंच मारता हुआ कहे जा रहा था— अफीम खाना मना है। क्योंकि उसने मात्र सीखा था, रटा था, अर्थ नहीं जान सका था।

सामायिक करते समय सामायिक के अर्थ को विस्मृत नहीं करना चाहिए। सामायिक की साधना बहुत पवित्र साधना है। अठारह पापों से मुक्त होने की, उनसे दूर होने की साधना है। जो व्यक्ति अड़तालीस मिनट तक प्रतिदिन कई बार इसका अभ्यास करता है, उसका प्रभाव उसके जीवन पर पड़े बिना नहीं रहेगा। भोजन करने में दस-बारह मिनट का समय ही लगता है, फिर भी उसका प्रभाव चार-पांच घण्टे तक रहता है, भूख नहीं लगती। जिसका अड़तालीस मिनट तक अभ्यास किया, क्या उसका प्रभाव बारह घण्टे भी नहीं रहेगा। सामायिक एक सुदृढ़ आलम्बन है। जो इसका सहारा लेता है, वह काफी बुराइयों से बच जाता है।

ऐसा न्यायाधीश : ऐसा पुत्र

ब्रिटिश शासक हेनरी चतुर्थ चतुर और न्यायी शासक था। एक बार सम्राट् के पुत्र ने कोई अपराध किया। मामला न्यायालय तक गया। न्यायाधीश ने मामले की गंभीरता को पहचाना और हेनरी के पुत्र को कारावास का दण्ड सुना दिया। सम्राट् के पास यह समाचार पहुंचा। सम्राट् तत्काल हाथ जोड़कर बोला— प्रभो ! मैं धन्य हूँ, मुझे ऐसा न्यायाधीश मिला, जो न्याय करना जानता

हो । मैं इस बात के लिए भी अपने को धन्य मानता हूँ कि मुझे ऐसा पुत्र मिला, जो कानून का सम्मान करना जानता है, उस पर अमल करना जानता है ।

अरुचि का रहस्य

अमल करना, क्रियान्विति करना, आचरण में लाना बहुत महत्वपूर्ण बात है । पूज्य गुरुदेव भिवानी में विराज रहे थे । एक सम्मानित परिवार के मुखिया ने कहा— महाराज ! मेरा लड़का धर्म में रुचि नहीं लेता है । आप उसे समझाएं । एक दिन वह लड़के को लेकर मेरे पास आया । मैंने लड़के से पूछा— तुम्हारी रुचि धर्म में कम क्यों है ? लड़का बोला— इस प्रश्न का उत्तर मैं दूंगा, किन्तु पिताजी के सामने कुछ नहीं कहूंगा । पिता उठकर चला गया । वह बोला— धर्म में मेरी रुचि कम नहीं है, साधु-साध्वियों के प्रति भी मेरे मन में अगाध श्रद्धा है । किन्तु एक बात से मेरे मन में बड़ा द्वन्द्व है । मेरे पिताजी दिन में तीन-चार बार साधु-साध्वियों के पास जाते हैं, दिन में अनेक बार सामायिक करते हैं, किन्तु घर में सबसे ज्यादा लड़ाई-झगड़ा भी वे ही करते हैं । मैंने विचार किया— धर्म स्थान में जाकर भी यदि इनमें कोई सुधार नहीं आया तो वहाँ जाने से मुझे क्या फायदा होगा ? इसलिए मैं यहाँ बहुत कम आता हूँ ।

जीवन में समता आए

सामायिक करने वाला सामायिक का पूरा पथ्य रखता है या नहीं, यह बहुत विचारणीय बात है । समता की साधना की है तो कलह, निन्दा, चुगली, ईर्ष्या आदि कुप्रवृत्तियाँ अवश्य क्षीण होंगी । सामायिक पर अमल किए बिना, समता का आचरण किए बिना, सिद्धान्त कितना ही पवित्र हो, फलित नहीं होगा, उसका मूल्य दूसरों की समझ में नहीं आएगा ।

भगवान् महावीर ने कहा— पहली आवश्यकता है समता की साधना । इसकी साधना किए बिना कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता, आत्मा की ओर प्रस्थान नहीं कर सकता । हम इसका मूल्य

आंके । यह कोई सामान्य बात नहीं है । आत्मकल्याण और परकल्याण की इससे बड़ी दूसरी कोई साधना नहीं है । जीवन में समता उतर आए तो फिर किसी बात की जरूरत नहीं रह जाती, कुछ पाना शेष नहीं रह जाता ।

शान्ति पूर्ण जीवन का सूत्र

जीवन में बहुत सी परिस्थितियां आती हैं । कभी लाभ हो जाता है, कभी हानि । सुख-दुःख जीवन-मरण, इस प्रकार की हजारों स्थितियां आती हैं, जाती हैं, कभी-कभी एक दिन में ही न जाने कितनी स्थितियां आ जाती हैं । इन स्थितियों में सम न रहें, इनके अनुसार चलायमान होते रहें, आन्दोलित होते रहें तो बड़ी विषम स्थिति उत्पन्न हो जाएगी । अच्छा जीवन जीने का सूत्र यही है कि हर स्थिति में शान्त रहें और शान्त वही रह सकता है, जिसने सामायिक की साधना की है । यह तो नहीं कहा जा सकता कि सामायिक करने वाला हर आदमी वीतराग बन जाएगा, किन्तु इससे इतना जरूर होगा कि वह ऐसी जीवनशैली अपना लेगा, ऐसे मार्ग पर अपने चरण बढा लेगा, जहां समता की सिद्धि उसे प्राप्त हो जाएगी । जिसने समता साध ली, जिसके जीवन में उच्चावच भाव नहीं रहा, उससे बड़ा आदमी इस दुनिया में दूसरा और कोई नहीं होगा । व्यावहारिक जीवन में उससे ज्यादा सुखी आदमी दूसरा नहीं हो सकता । जिसकी समता सिद्ध हो जाती है, वह जीने-मरने से भी प्रभावित नहीं होता । आचार्य भिक्षु के जीवन में यह समता सिद्ध हो चुकी थी, सामायिक पक गई थी इसीलिए वे लाभ-अलाभ, सुख-दुःख और जीवन-मरण में तटस्थ रह पाए ।

पूज्य गुरुदेव ने अपने जीवन के बारे में बड़ी मार्मिक बात लिखी है । एक तरह से वह सामायिक की सिद्धि से निकला हुआ स्वर है । आपने लिखा— मैंने अपने जीवन में जितना सम्मान पाया, उतना शायद बहुत कम लोग पाते हैं और जितना अपमान देखा, उतना बहुत कम लोग देखते हैं । रायपुर में लोगों ने देखा— कितने पुतले जलाए गए थे । कोरा सम्मान ही सम्मान मिलता तो अहंकार आने को बड़ी संभावना थी और कोरा अपमान ही अपमान मिलता तो हीनभावना से ग्रस्त हो जाने की बड़ी संभावना थी । सम्मान और अपमान

का ऐसा संतुलन रहा कि न तो अहंकार आया और न किसी प्रकार की हीन भावना ही पनपी ।

सबसे बड़ी समस्या

जिसने सामायिक की सिद्धि कर ली, वही ऐसी अनुभूति कर सकता है । दुनिया की सबसे बड़ी समस्या गरीबी नहीं है । यह एक समस्या तो है किन्तु सबसे बड़ी समस्या नहीं है । मेरी दृष्टि में सबसे बड़ी समस्या है असंतुलन की । न जीवन में संतुलन, न व्यवस्था में संतुलन । मनुष्य ने अपना संतुलन खो दिया है । जीवन के सारे बोझ को मात्र एक पलड़े में डाल दिया है । अध्यात्म की साधना को बिल्कुल भुला सा दिया है । आज व्यावहारिक जीवन में समता का सूत्र नहीं मिलता । उसमें मिलता है स्पर्धा का सूत्र । प्रत्येक व्यक्ति सोचता है, वह इतना करे तो हम इतना करें । प्रत्येक क्षेत्र में कदम-कदम पर स्पर्धा चलती है ।

समता का सूत्र अध्यात्म का सूत्र है । सामायिक की साधना में इन बातों पर ध्यान केन्द्रित होना आवश्यक है—

- उच्चारण शुद्ध हो ।
- सामायिक का अर्थ ज्ञात हो ।
- यह अनुप्रेक्षा होनी चाहिए— मैं समता के किन सूत्रों की साधना कर रहा हूं । किन सावध योगों को मैं छोड़ रहा हूं और किन निखद्य योगों की प्राप्ति की चेष्टा कर रहा हूं ।

अनुप्रेक्षा का यह दिवेक सामायिक के साथ जुड़ जाए तो सारे व्रत स्वयमेव सध जाएं । यदि यह पूछा जाए— एक शब्द में भगवान् महावीर का धर्म क्या है तो इसका उत्तर होगा— सामायिक । इतने महत्वपूर्ण अनुष्ठान की साधना पहली आवश्यकता है । इसे अपना कर अपने जीवन को सार्थक और सफल बनाएं ।

चतुर्विंशति स्तव (१)

तीन योग मुख्य माने गए हैं— ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग । जैनदर्शन ज्ञानयोग का अनुगामी है ? भक्तियोग अथवा कर्मयोग का अनुगामी है ? कुछ केवल ज्ञानयोग पर चलते हैं । कुछ केवल भक्तिमार्ग पर चलते हैं । कुछ कर्मवादी हैं, जो कर्म को ही सब कुछ मानते हैं । जैनदर्शन क्या मानता है ? जैन दर्शन अनेकान्तवादी है । किसी एक वाद को नहीं मानता, एक को ही पकड़ कर नहीं बैठता । उसने तीनों को समान रूप से महत्त्वपूर्ण माना है ।

भक्ति की परंपरा

दिगंबर परम्परा के महान् आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म जगत् का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'समयसार' लिखा । उन्होंने श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति, तीर्थकर भक्ति आदि अनेक भक्तियां लिखीं । मैं मानता हूँ— वह व्यक्ति जिसमें श्रद्धा और भक्ति नहीं है, आध्यात्मिक नहीं हो सकता । आचार्य भिक्षु महान् तत्ववेत्ता थे । कुन्दकुन्द ने निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के बारे में सोचा । आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के बारे में निश्चयनय की दृष्टि से सोचा । इतनी गहराई से अहिंसा पर सोचने वाला शायद कोई आचार्य नहीं मिलेगा । एक ओर इतने बड़े विचारक, दूसरी ओर महान् भक्त, जिनवाणी के भक्त, महावीर के भक्त । जयाचार्य भी महान् तत्त्ववेत्ता थे । उन्होंने आगम का गहन अध्ययन किया । इतना गहरा अध्ययन कि पांच वर्ष में भगवती जोड़ सूत्र की रचना कर डाली । पूज्य गुरुदेव कहते हैं— श्रीमज्जयाचार्य को 'भगवती जोड़' बनाने में पांच वर्ष लगे और मुझे 'सेवाभावी' काव्य की रचना में ही

सोलह वर्ष लग गए । आगमवेत्ता जयाचार्य की चौबीसी को पढ़ें तो ऐसा लगेगा जैसे भक्ति का झरना सा फूट पड़ा है । चौबीसी का संगान होते ही व्यक्ति भक्ति की गहराई में डूब जाता है ।

चौबीसी में अध्यात्मवाद

चौबीसी में केवल भक्ति नहीं है, अध्यात्म का भी जीवन्त स्पर्श है । अध्यात्म का पहला बिन्दु और अध्यात्म का चरम बिन्दु— जिज्ञासा की एक तलहटी और दूसरा शिखर है । जयाचार्य ने स्तुति के माध्यम से इस जिज्ञासा का समाधान किया— चेतन और तन की भिन्नता का बोध— भेदविज्ञान अध्यात्म का पहला बिन्दु है और वही अध्यात्म का चरम बिन्दु है । जो आत्मा और शरीर अथवा पुद्गल का भेद नहीं जानता, वह आध्यात्मिक नहीं हो सकता, इसलिए वह अध्यात्म का पहला बिन्दु है । आत्मा और शरीर का भेद अथवा पृथक्करण करके ही कोई मुक्त हो सकता है इसलिए वह अध्यात्म का चरम बिन्दु है । समाधान का पद है— 'चेतन तन भिन्न लेखवी ।'

अध्यात्म की जागृति के लिए दो ध्यान बतलाए गए हैं— धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान । धर्म्यध्यान विचय ध्यान है । उससे पदार्थ के स्वरूप—वस्तुसत्य को जाना जा सकता है । आज का वैज्ञानिक यंत्र के माध्यम से सूक्ष्म सत्यों को जान लेता है । आध्यात्मिक व्यक्ति विचय ध्यान की पद्धति से सूक्ष्म सत्यों का बोध करता है । शुक्लध्यान आत्मा के साक्षात्कार की पद्धति है । इसके माध्यम के साधक पुरुष आत्मानुभूति की दिशा में प्रस्थान करता है ।

भेदविज्ञान की साधना की आधारभूमि है तप और तप का प्राण-तत्त्व है अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में सम रहने की मनोवृत्ति । जयाचार्य की रहस्य वाणी में यही सत्य अनावृत हुआ है । उसकी समग्रता को पढ़ें :

अनुकूल प्रतिकूल सम सही, तप विविध तपंदा ।

चेतन तन भिन्न लेखवी, ध्यान शुक्ल ध्यावंदा ॥

सहिष्णुता और तप की पार्श्वभूमि एक ही रही है । तप के बिना सहिष्णुता का विकास संभव नहीं है और सहिष्णुता के बिना तप का विकास

संभव नहीं है। साधारणतया प्रतिकूल परिस्थिति को सहन करने के अर्थ में सहिष्णुता का प्रयोग होता है। यह उसका एक पक्ष है। उसका दूसरा पक्ष है अनुकूल परिस्थिति को सहन करना। प्रतिकूल परिस्थिति को सहन करना कठिन है। अनुकूल परिस्थिति को सहन करना कठिनतर है। जो चरण निन्दा की भूमि पर नहीं फिसलते, वे प्रशंसा की भूमि पर फिसल जाते हैं।

भगवान् ऋषभ की आध्यात्मिक जीवनचर्या का स्तुति की शब्दावली में एक गाथा में शब्दांकन कर जयाचार्य ने स्तुति-कौशल का निदर्शन प्रस्तुत किया है। यदि हम चौबीसी के प्रत्येक पद और प्रत्येक गाथा को गहराई से पढ़ें तो प्रतीत होगा कि यह स्तुति-ग्रन्थ पतंजलि का योगग्रन्थ और कुन्दकुन्द का अध्यात्म ग्रन्थ है।

प्रश्न शरणागति का

भक्ति का एक रूप होता है शरणागति, शरण में चले जाना। जयाचार्य ने बार-बार प्रभु की शरण ली है, अपने आपको दास कहा है। प्रश्न हो सकता है— जैनदर्शन में दास और शरणागति की बात कैसे हो सकती है? जैन परंपरा में ईश्वर को कर्ता नहीं माना गया है। भक्ति तो वहां होती है, जहां कोई कर्ता हो, कुछ देता हो। जैनदर्शन देने वाला किसी को मानता नहीं है। वह प्रत्येक आत्मा को परिपूर्ण मानता है। वैष्णवों की भक्ति और जैनों की भक्ति में जो एक मूलभूत अन्तर है, वह यह है— वैष्णवं भक्ति में ईश्वर दाता रूप है, जैनदर्शन का ईश्वर दाता नहीं है। जहां देने वाली बात है, वहां भक्ति स्वाभाविक है। यह भक्ति दुर्बलता की है। दुर्बल को चाहिए, समर्थ को किस चीज की जरूरत है। जिसमें शक्ति है, उसे भक्ति करने की जरूरत नहीं है। जब शक्ति कम होती है, तब भक्ति की जरूरत पड़ती है। वैष्णव मान्यता में एक ईश्वर है और सब आत्माएं उस ईश्वर की अंश हैं। जैन दर्शन की मान्यता इससे भिन्न है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा ईश्वर है, अपने आप में परिपूर्ण है, कोई किसी ईश्वर का अंश नहीं है। कोई किसी का यंत्र नहीं है, किसी में विलीन नहीं होता है, मिलता नहीं है। व्यक्ति यंत्र नहीं, स्वतंत्र है। मुक्त आत्मा की जैसी आत्मा है, वैसी ही उसकी आत्मा है। उसे

न किसी का सेवक या दास बनना है, न ही किसी की शरण में जाना है ।
इसीलिए एक जैन कवि ने लिखा है :

मोख देत नहिं हमको, हम जाएं किहि डेरा ।

प्रभु ! आप हमें मोक्ष नहीं देते हैं तो फिर हम किस डेरे पर जाएं ?
कहां जाए ?

आलंबन है भक्ति

जयाचार्य ने कहा— जो आपकी स्मृति करता है, वह आपमें मिल जाता है । यह अन्तर्विरोध क्यों ? वस्तुतः यह अन्तर्विरोध नहीं है, मन की पवित्रता है । मन को निर्मल करने के लिए एक आलंबन की जरूरत है । हम परमात्मा अथवा मुक्तात्मा को एक आलंबन मानते हैं, कर्ता नहीं । जैसे लता को ऊपर चढ़ने के लिए एक आलंबन या सहारा चाहिए, उसी तरह पूर्णता प्राप्ति के पूर्व हमें भी एक आलंबन चाहिए । जैसे दीवार बेल को बढ़ने में सहारा नहीं देती, उसी तरह कर्ता भी सहारा नहीं होता । भक्ति वह सहारा है । भक्ति है हमारा आलंबन । कर्तृत्व के प्रति भक्ति नहीं है । आलंबन के प्रति भक्ति है । आलंबन का भी बड़ा मूल्य होता है । उससे हमारी चेतना निर्मल बनती है । योग का एक सिद्धान्त है, जिसे गुण-संक्रमण का सिद्धान्त कहा जाता है । व्यक्ति एक अच्छे आदमी के सामने जाकर बैठे । उसे देखे, देखता रहे । उसका गुण उसमें संक्रान्त होना शुरू हो जाएगा । योग की प्रक्रिया है— अगर शारीरिक शक्ति को बढ़ाना है तो बाहुबलि या हनुमान की पराक्रमता का ध्यान करो, व्यक्ति के भीतर शक्ति का संचार शुरू हो जाएगा । वैनतेय या गुरुण का ध्यान करो, गति में तीव्रता आ जाएगी ।

गुण-संक्रमण

जैन दर्शन की भक्ति गुण-संक्रमण की भक्ति है । हम वीतराग का ध्यान करें, वीतरागता के गुण हममें संक्रान्त होने शुरू हो जाएंगे । जयाचार्य ने लिखा— आपकी भक्ति करने वाला आप जैसा बन जाता है । हम इन शब्दों

पर ध्यान दें— आप जैसा बन जाता है, आपमें विलीन नहीं होता । एक भक्ति है परमात्मा में विलीन हो जाना, अपने अस्तित्व को समाप्त कर लेना । यह जैनदर्शन में सम्मत नहीं है । हम अपने अस्तित्व को समाप्त नहीं करते हैं । जो अस्तित्व मुश्किल से मिला है, उसे समाप्त क्यों कर दें ? वीतराग की भक्ति कर वीतराग जैसा बन जाना, यह भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्वरूप है । आचार्य मानतुंग ने वीतराग प्रभु की वंदना करते हुए लिखा— प्रभो ! उस भगवान् से मुझे क्या, जो अपने भक्त को अपने बराबर नहीं बना देता । मुझे उस भगवान् की जरूरत है, जो अपने भक्त को भी भगवान् बना दे ।

राजलदेसर में पूज्य गुरुदेव ने मुझे आदेश दिया— तुम आओ और मेरे बराबर बैठो । मेरे संकोच की सीमा न रही । मैं जो सदा आपका भक्त रहा, शिष्य रहा, बराबर कैसे बैठता ? पर पूज्य गुरुदेव ने हाथ पकड़ कर बिठा दिया । तब मैंने आचार्य मानतुंग के इसी श्लोक को उद्धृत करते हुए अपनी भावांजलि प्रस्तुत की—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ !
 भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
 तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
 भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥

जैन दर्शन की भक्ति भक्त को भगवान् बनाने वाली भक्ति है, भक्त को शाश्वत भक्त रखने वाली भक्ति नहीं है । एक संस्कृत कवि ने सूर्य को अपना विषय बनाते हुए लिखा—सूरज ! तू आते ही सारी पृथ्वी को आलोकित कर देता है, सोये लोगों को जगा देता है, यह तुम्हारी सबसे बड़ी विशेषता है किन्तु तुम आते ही आकाश के सारे ग्रह-नक्षत्रों को अस्त कर देते हो, अपने स्वजाति जनों को बुझाकर अकेले चमकना चाहते हो इसलिए तुम मुझे अच्छा नहीं लगते ।

तिमिरलहरी गुर्वी मुर्वी करोतु विकस्वरां,
 हरतु नितरां निद्रामुद्रां क्षणात् गणिनां गणात् ।

तदपि तरणे ! तेजःपुञ्ज ! प्रियो न ममैष ते ।
किमपि तिरयन् ज्योतिष्वक्रं स्वजातिविराजितम् ॥

चतुर्विंशति स्तव

वह भक्ति भी हमें अच्छी नहीं लगती है, जो हमेशा भक्ति ही बनी रहे । मझान् व्यक्तित्व वह होता है, जो सबको चमकाता है, अपने सदृश बनाता है । भक्ति के इस सिद्धान्त को सम्यक् प्रकार से समझें । जैनदर्शन में ज्ञानयोग का महत्व है तो भक्तियोग का महत्व भी कम नहीं है । अपने भीतर के विजातीय तत्वों को दूर करने के लिए भक्ति बहुत अच्छा आलंबन है, सहारा है । इससे आत्मा का बहुत शोधन हो जाता है । भक्ति ही भक्त को पवित्र बनाए रखती है । एक मुनि और श्रावक के लिए जो दूसरा करणीय है, वह है स्तुति, भक्ति या उक्तीर्तन । उस भक्ति या कीर्तन में 'चउवीसत्थव'— चतुर्विंशति स्तव का नाम महत्त्वपूर्ण है । आदिवचन से इसे ही लोगस्स का पाठ कहा जाता है । इस लोगस्स के पाठ में सात गाथाएं हैं और उनमें चौबीस तीर्थकरों की स्तुति की गई है । इसलिए यह बहुत बड़ा सप्तपदी मंत्र है, सात गाथाओं वाला एक महामंत्र है ।

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतिथ्यरे जिणे ।
अरहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥१॥

उसभमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥

सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥

कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥

एवं मए अभिथुआ, विहुय-रयमला पहीणजर-मरणा ।
चउवीसंपि जिणवरा, तिथ्यरा मे पसीयंतु ॥५॥

कित्ति य वंदिय मए, जे ए लोगस्य उत्तमा सिद्धा ।
 आरोग्ग-बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥
 चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
 सागर-वरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

भक्ति क्यों ?

प्रश्न है— भक्ति क्यों करें ? भक्ति या स्तुति का प्रयोजन है— मन की निर्मलता या भाव की विशुद्धि । भक्ति हो और मन की निर्मलता न बड़े, भावविशुद्धि न हो तो प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । मन की एकाग्रता निर्मलता और भावविशुद्धि का योग मिलता है तो मनुष्य का चित्त भावित हो जाता है । जैसे हरडे भावित होती है तो उसकी शक्ति शत-गुणित हो जाती है । वैसे ही य र ल व आदि अक्षर भावित होते हैं तो उनकी शक्ति बढ़ जाती है । भावित होने का साधन है मन की निर्मलता और पवित्रता ।

निष्काम भक्ति

जैन भक्ति निष्काम भक्ति है । एक सकाम भक्ति होती है और एक निष्काम भक्ति होती है । सकाम भक्ति वहां होती है, जहां कोई मांग होती है । केवल आत्मशुद्धि के लिए जो भक्ति होती है, उसे निष्काम भक्ति कहते हैं । इसमें कोई कामना नहीं होती । प्रश्न हो सकता है— कामना क्यों नहीं ? कामना तो की जा रही है और लोगस में भी कहा गया—**आरोग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु**— प्रभो ! आप मुझे आरोग्य दें, बोधि और समाधि दें । आरोग्य, बोधि और समाधि— ये तीन कामनाएं की गई हैं । यह कामना एक ऊंचे स्तर की कामना है । कामना का भी स्तर होता है । छोटी चीज की भी मांग होती है । बोधि और समाधि की कामना इसलिए है कि हमारी वृत्ति का उदात्तीकरण हो जाए, वह ऊर्ध्वगामी हो जाए । आरोग्य की कामना भी छोटी कामना नहीं है । यह साध्य का निमित्त है । सिद्धान्त यह होना चाहिए— हम आत्मशुद्धि के लिए सारा काम करें । साथ में प्रासंगिक रूप में कोई चीज

मेल जाए । आचार्य भिक्षु का यह सिद्धान्त ध्यान में रखें— पुण्य के लिए कोई काम मत करो । करणी करो निर्जरा के लिए, आत्मशुद्धि के लिए, पुण्य अपने आप हो जाएगा । उसके लिए अलग से प्रयत्न करने की कोई जरूरत नहीं है । आचार्य भिक्षु ने उदाहरण के द्वारा इसे समझाते हुए कहा— आदमी खेती करता है अनाज के लिए । उसके साथ कड़बी, कलाल, भूसा आदि अपने आप हो जाते हैं । खेती का वह मुख्य प्रयोजन नहीं होता । दो प्रकार के फल होते हैं— मुख्य फल और प्रासंगिक फल । मुख्य फल के साथ प्रासंगिक फल स्वतः हो जाता है ।

भक्ति का प्रयोजन

हमारी भक्ति का प्रयोजन क्या है ? इस सन्दर्भ में महावीर ने एक सुन्दर सूत्र दिया—ननत्थ थेनिज्जरट्ठयाए— केवल निर्जरा के लिए करो । आचार्य किसलिए ? निर्जरा के लिए । तपस्या किसलिए ? केवल निर्जरा के लिए । स्वाध्याय किसलिए ? निर्जरा के लिए । भक्ति किसलिए ? निर्जरा के लिए । पचास प्रश्न पूछें, महावीर का एक ही उत्तर होगा— निर्जरा के लिए । जहां भी निर्जरा का उद्देश्य गौण होता है, वहां मुख्य उद्देश्य भटक जाता है । निर्जरा का तात्पर्य है आत्मशुद्धि के लिए, इससे प्रासंगिक रूप में पुण्य का बन्ध होता है, कामनाएं पूरी होती हैं, कुछ पौद्गलिक योग भी मिलता है । किन्तु यह विवेक भक्तिमार्ग में होना चाहिए और जैन भक्ति में यह मुख्य विवेक है— केवल कामना के लिए कुछ मत करो । करो तो निर्जरा के लिए करो । जहां यह बात होगी, वहां सब कुछ अपने आप मिलता जाएगा ।

जैसी चाह : वैसी प्राप्ति

एक मार्मिक कहानी है । राजा परदेश गया । उस जमाने में आज जैसे तीव्रगामी साधन नहीं थे कि एक दिन में सुदूर देश में पहुंच जाए । रथ या हाथी ही यातायात के साधन थे । राजा गया, किन्तु वह जल्दी लौट नहीं सका । कुछ दिनों बाद राजा का समाचार पहुंचा कि जल्दी ही आ रहा हूं । राजा के चार रानियां थीं । चारों ने ही प्रसन्नता प्रकट की, राजा को अपने-

अपने संवाद भेजे । राजा स्वदेश पहुंचा । वह विदेश से बहुत सारे कीमती उपहार भी अपने साथ लाया था । राजा ने एक कीमती हार बड़ी महारानी को दिया । दूसरी रानी को बाजूबन्द और तीसरी रानी को स्वर्णनूपुर दिए । चौथी रानी से कहा— जो कुछ शेष है, वह सब तुम्हारा है । तीनों रानियां ईर्ष्या से जलभुन गईं । बोलीं— महाराज ! इतना बड़ा पक्षपात ; हमें ये छोटी चीजें दीं और इसे अपना सब कुछ दे दिया । यह तो अन्याय है । राजा ने बड़ी शांति से कहा— लो, ये तुम चारों के पत्र हैं, इन्हें पढो । पत्रों को पढा गया । बड़ी महारानी ने लिखा था— आप आ रहे हैं तो कृपा करके मेरे लिए एक अच्छा-सा हार लाना न भूलें । राजा ने कहा— तुमने जो मांगा था, वह मिला या नहीं ? रानी ने स्वीकारोक्ति दी और चुप हो गई । दूसरी और तीसरी रानी का पत्र पढा गया । उन दोनों ने क्रमशः बाजूबन्द और नूपुर की मांग की थी । राजा ने उन्हें संतुष्ट कर दिया । चौथी रानी का पत्र पढा गया, उसने लिखा था— महाराज ! बहुत दिन हो गए । आप जल्दी से यहां पधारें । मुझे और कुछ नहीं चाहिए, सिर्फ आप यहां जल्दी पहुंचें । यही हमारी चाह है । राजा ने कहा— जिसने जो मांगा, उसे वही मिला । मैंने क्या अन्याय किया, क्या पक्षपात किया ? जिसने मुझे मांगा, उसे मेरा सब कुछ मिल गया ।

जहां एक चीज मांगी जाती है, वहां एक चीज मिलती है । जहां बड़ी चीज मांगी जाती है, वहां उसके साथ और भी बहुत सारी चीजें मिल जाती हैं । निर्जरा की मांग करने पर दूसरी चीजें स्वतः मिल जाती हैं इसलिए छोटी चीजें मत मांगो । **मा अप्पेण लुंपहा बहु**— थोड़े के लिए बहुत को मत गंवाओ । आत्मशुद्धि की कामना करो, निर्जरा की कामना करो । बड़ी चीज को मांगो । राजा आएगा तो उसके साथ सारा लवाजमा अपने आप आएगा । गुरु आएंगे तो शिष्य समुदाय साथ में होगा ही । बड़े के साथ छोटी चीजें तो आ जाती हैं, किन्तु छोटे के साथ बड़ा कभी नहीं आता । यह जैन भक्ति का महत्त्वपूर्ण सूत्र है— निर्जरा के लिए करो, कामनाएं स्वयं पूर्ण होंगी । मन की निर्मलता नहीं है, भाव की विशुद्धि नहीं है और कामना करें कि मुझे यह मिल जाए, वह मिल जाए, यह संभव नहीं है ।

भक्ति कैसे करें ?

एक प्रश्न है— कैसे करें इस निष्काम भक्ति की साधना ? लोगस्स की सात गाथाएं हैं । सात पदों के सात अलग-अलग प्रयोग हैं । स्वास्थ्य, बंधनमुक्ति, स्मृति का विकास, दृष्टि का विकास आदि आदि बातें कैसे सिद्ध होती हैं, इसका एक पूरा कल्प बना हुआ है । वस्तुतः लोगस्स की एक विधि निश्चित हो, यह अपेक्षित है । उस विधि के कुछेक बिन्दु ये हैं—

पहला तत्व है उच्चारण की शुद्धि । उच्चारण सही होता है तो एक प्रकार की तरंगें बनती हैं । हमारे चिन्तन की तरंगें होती हैं, वाणी और क्रिया की भी तरंगें होती हैं ॥ हमारी कोई भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं है, जिसमें तरंगें न उठती हों । तरंग का एक नियम है । फ्रिक्वेंसी के आधार पर ही उस वेवलेंथ या तरंग की लम्बाई ज्ञात होती है । (मंत्र की शक्ति इस तथ्य पर बहुत निर्भर है । इसीलिए शुद्ध लयबद्ध उच्चारण होना चाहिए ।)

दूसरा तत्व है अर्थबोध । यह ज्ञात होना चाहिए कि मैं क्या बोल रहा हूं, किस तीर्थंकर की स्तुति कर रहा हूं ।

मानसिक चित्र का निर्माण

तीसरा तत्व है मानसिक चित्र का निर्माण । हम जिस चित्र का मन में निर्माण करेंगे, वही घटित होना शुरू हो जाएगा । जो अर्हत् का मानसिक चित्र बनाता है, वह अर्हत् रूप में परिणत होना शुरू हो जाता है, उसकी वैसी ही परिणति होनी शुरू हो जाती है ॥ चौबीस तीर्थंकरों के अलग-अलग रंग हैं । जयाचार्य ने बड़ी चौबीसी में सभी तीर्थंकरों के रंगों का पूरा विवेचन किया है । आचार्य हेमचन्द्र ने भी अभिधान चिन्तामणि में चौबीस तीर्थंकरों के रंगों का उल्लेख किया है—

रक्तौ च पद्मप्रभववासुपूज्यौ, शुक्तौ च चन्द्रप्रभपुष्पदंतौ ।

कृष्णौ पुनर्नेमि मुनी विनीलौ, श्रीमल्लिपाश्वो कनकत्विषोन्ये ॥

पद्मप्रभु और वासुपूज्य, इन दो तीर्थंकरों का रंग है लाल । चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत— इन दो तीर्थंकरों का रंग सफेद है । नेमि और सुव्रत— इनका रंग

काला है। मल्लि और पार्श्व का रंग नीला है। शेष तीर्थकरों का रंग स्वर्णमय है। इस प्रकार तीर्थकरों के अलग-अलग रंग हैं। साधना में जिस तीर्थकर का नाम आए, तत्काल उस तीर्थकर से संबंधित रंग का चित्र अपने मस्तिष्क में बना लें। ऐसा चित्र मस्तिष्क में बन जाता है। केवल अभ्यास की जरूरत है। अमेरिका में ऐसे प्रयोग हुए हैं। एक व्यक्ति एक मल्टीस्टोरी बिल्डिंग की कल्पना दिमाग में कर रहा था। एक सूक्ष्मसंवेदनशील कैमरे के द्वारा उसका फोटो लिया गया, उसके मस्तिष्क में उस मकान का फोटो आ गया। एक व्यक्ति खड़ा-खड़ा एक सुन्दर कार के बारे में सोच रहा था। उसका फोटो लिया गया तो उसके दिमाग में उस कार का फोटो आ गया। हमारे दिमाग में ऐसे चित्र बनते हैं। आवश्यकता है अभ्यास की, जिससे इन चित्रों को साक्षात् कर सकें।

श्वास के साथ

लोगस्स का पाठ प्रायश्चित् के लिए बहुत काम में आता था। इसीलिए लोगस्स का ध्यान श्वासोच्छ्वास के साथ किया जाता था। एक श्वासोच्छ्वास के साथ एक पद का मानसिक उच्चारण। **लोगस्स उज्जोयगरे**— यह एक पद है। **धम्मतिथ्यरे जिणे**— यह दूसरा पद है। प्रत्येक पद के साथ श्वासोच्छ्वास का प्रयोग और पद का मानसिक उच्चारण, इस प्रकार **चन्देसु निम्मलयरा** तक पच्चीस श्वास का कायोत्सर्ग संपन्न होता है। पच्चीस श्वास लेने में श्वास भी लंबा होगा। एक लोगस्स के पाठ में लगभग एक मिनट से ज्यादा लगेगा। वस्तुतः लाभ तभी होगा, जब लोगस्स का पाठ विधिवत् करें, श्वास के साथ धीमे-धीमे बराबर एक लय के साथ उच्चारण करें।

वि० सं० २०३५, गंगाशहर चतुर्मास। संवत्सरी का दिन। मैं एकान्त में प्रतिक्रमण कर रहा था। मैंने श्वास के साथ चालीस लोगस्स का ध्यान किया। समय तो लगा किन्तु इतना अच्छा ध्यान हुआ कि शायद मेरे लिए वह अपूर्व था। इसे कोई भी करके देख सकता है। चालीस लोगस्स का ध्यान और प्रत्येक पद श्वास के साथ। समय चाहे आधा घण्टा लग जाए पर इतना निश्चित है कि फिर कभी ट्रेक्वेलाइजर की जरूरत नहीं पड़ेगी। ज्यादा नहीं,

सौ श्वास में चार लोगस्स का ही ध्यान कर लें, फिर देखें— मस्तिष्क में कितनी शान्ति की अनुभूति होती है । पूरे दिन एक विचित्र सी मस्ती रहेगी ।

यह लोगस्स की पूरी विधि है । शुद्ध उच्चारण, अर्थ का बोध, रंगों के साथ मानसिक चित्र का निर्माण और श्वास के साथ लोगस्स का जप— इस विधि से लोगस्स का पाठ किया जाए तो वह शक्तिशाली बन जाएगा, बहुत प्रभावी सिद्ध होगा ।

स्तुति का परिणाम

उत्तराध्ययन सूत्र में पूछा गया— भगवन् ! चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करने से जीव क्या प्राप्त करता है ? भगवान् ने उत्तर दिया— दंसणविसोहिं जणयई— दर्शन की विशुद्धि को प्राप्त होता है ।

दर्शन नैश्चयिक भी होता है और व्यावहारिक भी । उसकी विशुद्धि मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से होती है । अनंतानुबंधी चतुष्क और तीन सम्यक्त्व की प्रकृतियां— इनके क्षयोपशम से दर्शन की विशुद्धि होती है । चौबीस तीर्थकर या वीतराग की स्तुति या ध्यान करने से मोहनीय कर्म शान्त होते हैं ।

आकर्षण जागे

व्यवहारनय की दृष्टि से विचार करें । दर्शन की विशुद्धि से श्रद्धा पैदा होती है, वीतराग या अर्हत् के प्रति । श्रद्धा पैदा करना भी बहुत जरूरी है । यदि वीतराग देव के प्रति श्रद्धा नहीं होती है तो वह दर्शन ज्यादा नहीं चलता है । कोई भी दर्शन चलता है, संघ और शासन चलता है तो वह आस्था के बल पर चलता है । कोई भी चीज कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसके प्रति आकर्षण पैदा नहीं होगा तो उसका कोई उपयोग नहीं होगा । आज मार्बल बहुत निकल रहा है । उसका उपयोग भी देश-विदेश में बहुत बढ़ा है । मेवाड़ में यह प्रचुर मात्रा में था किन्तु मंदिरों के अलावा और कहीं देखने को भी नहीं मिलता था । आज एक आकर्षण पैदा हुआ है और उसका परिणाम यह आया— पचास किलोमीटर का क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र बन गया है । छोटे

स्तर पर इसका व्यवसाय करने वाले लोग बड़ी-बड़ी मशीनें लगा कर करोड़पति बन गए । वे देश-विदेश में इसका निर्यात करने लगे हैं । आकर्षण इसका मुख्य हेतु है । जब वीतराग के प्रति आस्था प्रबल बनती है, दर्शन विशुद्ध बनता है । दर्शन की विशुद्धि से संघ और शासन भी निर्मल बनता है, पवित्र बनता है । यह निर्मलता मानव मन को निर्मल बनाने में अभिप्रेरक बनती है ।

चतुर्विंशति स्तव (२)

चतुर्विंशति स्तव मंगल है। दूसरे शब्दों में यह हमारा समर्पण है। लोगस्स का सूत्र अर्हता का सूत्र है, समर्पण का सूत्र है। लोगस्स सूत्र में चौबीस तीर्थकरों के प्रति एक साधक के द्वारा समर्पण किया गया है। साधना क्षेत्र में समर्पण का बहुत बड़ा मूल्य होता है। जिसमें श्रद्धा और समर्पण— ये दो तत्व नहीं होते, वह व्यक्ति साधना के क्षेत्र में कभी नहीं उतर सकता। साधना के क्षेत्र में पहला पैर रखने से पूर्व श्रद्धा और समर्पण का अभ्यास करना होता है। श्रद्धा का अपना मूल्य होता है, बहुत बड़ा मूल्य होता है। मैं श्रद्धा के विपक्ष में भी बहुत चर्चा किया करता हूँ किन्तु वह एक क्षेत्र का भेद है। एक विपर्यय हो गया, एक उल्टी बात हो गयी कि जहां श्रद्धा होनी चाहिए, वहां हमारे मन में सन्देह हो गया। जहां सन्देह और तर्क होना चाहिए, वहां हम श्रद्धा का प्रयोग कर रहे हैं। जहां सत्य की खोज, सत्य की शोध का प्रश्न है, वहां श्रद्धा की कोई आवश्यकता नहीं है। वहां तो शल्य-चिकित्सा होनी चाहिए। मैंने भगवान् महावीर, आचार्य भिक्षु के विचारों की शल्य-चिकित्सा की तो ऐसा लग सकता है कि मुझमें श्रद्धा नहीं है। मैं मानता हूँ कि इस क्षेत्र में श्रद्धा होनी ही नहीं चाहिए। जहां सत्य को समझना है, वहां हमारे सामने कसौटी होनी चाहिए, वहां हमारे हाथ में तुला होनी चाहिए कि हम तोल सकें, कसौटी कर सकें। वहां हाथ में चाकू होना चाहिए कि हम शल्य-चिकित्सा कर सकें, चीड़-फाड़ कर देख सकें। सत्य को स्वीकार ऐसे ही नहीं किया जाता। उसे स्वीकार करने के लिए बहुत खपने-तपने की जरूरत होती है।

आचार्य भिक्षु को एक भाई गालियां दे रहा था। लोगों ने कहा—

महाराज ! कितना उदंड है यह आदमी ! निष्प्रयोजन आपको गालियां बक रहा है । आचार्य भिक्षु तो बहुत मर्मज्ञ थे । वे ऊपर को नहीं देखते थे, चमड़ी को नहीं देखते थे । वे अन्तस्तल तक पहुंचते थे, गहाराई तक जाकर देखते थे । उनकी प्रज्ञा इतनी जागृत थी कि भीतर में जाकर वस्तु का मूल्यांकन करती थी । आचार्य भिक्षु ने कहा— जो गालियां दे रहा है, वही मेरा सबसे बड़ा भक्त होने वाला है । लोगों ने कहा— यह कैसे ? आचार्य भिक्षु ने कहा— कोई आदमी कुम्हार के घर एक घड़ा खरीदने जाता है तो सबसे पहले घड़े को बजाकर देखता है कि वह फूटा हुआ तो नहीं है । जब दो-चार पैसे के घड़े की इतनी परख करता है तो भला जिसे गुरु मानना है, उसे दस-बीस गालियां दिए बिना कैसे स्वीकार करे ? परीक्षा करेगा, पहले देखेगा, तोलेगा कि गुरु में समताभाव कितना है, गालियों का क्या प्रभाव होता है उस पर । पूरी जांच-पड़ताल करेगा, फिर स्वीकार करेगा । ऐसा ही हुआ । गालियां बकने वाला वही व्यक्ति एक दिन आचार्य भिक्षु का बड़ा श्रावक बन गया !

सत्य के क्षेत्र में जहां सत्य को जानना है, उसे देखना है, वहां बुद्धि और तर्क का उपयोग होना चाहिए, विचार का उपयोग होना चाहिए और हो सके तो अनुभव का उपयोग होना चाहिए । श्रद्धा का क्षेत्र है अपनी संकल्प-शक्ति का विकास, भावना का प्रयोग । जहां भावना का प्रयोग करना है, जहां संकल्प-शक्ति का उपयोग करना है, सृजन करना है, कुछ निर्माण करना है, वहां श्रद्धा का पूरा उपयोग होना चाहिए । जहां श्रद्धा में एक भी छिद्र बन जाता है वहां नौका डुबाने वाली बन जाती है । भगवान् महावीर की भाषा में भावना एक नौका है । उसमें यदि छेद नहीं है तो वह पार पहुंचा देती है । एक भी छेद हो गया तो बीच में ही डुबो देती है ।

श्रद्धा है हमारी भावना में । बड़ा चमत्कार है । जिस व्यक्ति में भावना का बल आ गया, वह अद्भुत काम कर जाता है । अभी दो-चार दिन पूर्व एक चर्चा चल पड़ी । डॉ० टाटिया ने कहा— दर्द बहुत है । मैंने कहा—रंग का प्रयोग करें, भावना का प्रयोग करें । लाल रंग का ध्यान करें । ध्यान किया, भावना का प्रयोग किया । फिर आए और कहने लगे— इतनी गर्मी हो गई कि रात-भर नींद नहीं ले सका । ऐसा लगा जैसे सारे शरीर में आग लग गई

हो। कैसे हो सकता है यह ? क्यों हुआ ? यदि हम भावना का प्रयोग करें तो जैसा अनुभव करेंगे, वैसा हो जाएगा।

बीकानेर में शिविर चल रहा था। नमस्कार मंत्र का प्रयोग चल रहा था। लाल रंग का प्रयोग करवाया। वह दिन शिकायतों का दिन रहा। कोई कहता— आग लग रही है। कोई कहता— सिर फटा जा रहा है। बड़ी समस्या पैदा हो गई। सारा दिन गर्मी का दिन रहा। कई व्यक्ति शिकायतें लेकर पास में आते रहे। ऐसा क्यों होता है ?

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।

सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।

यह लोगस्स के सात श्लोकों में से एक श्लोक है। भावना का बहुत बड़ा प्रयोग है। पहले चरण का अर्थ है— चन्द्रमा की भांति निर्मल। दूसरे चरण का अर्थ है— सूर्य की भांति प्रकाशक। तीसरे चरण का अर्थ है— समुद्र की भांति गम्भीर। चौथे चरण का अर्थ है— जो सिद्ध है, वे हमें सिद्धि प्रदान करें। बहुत साधारण-सा अर्थ लगता है, किन्तु समर्पण और श्रद्धा के साथ इस भावना का प्रयोग करें तो चमत्कार घटित हो सकता है। श्रद्धा और समर्पण के साथ जिसने तादात्म्य स्थापित कर लिया, उसे ऐसा लगे कि यह क्या हो गया। बड़ा अजीब-सा हो रहा है। जिसने इसका प्रयोग नहीं किया, वह कह सकता है कि यह क्या ? आज के वैज्ञानिक युग में अंधविश्वास की बात कही जा रही है। मैं एक धार्मिक व्यक्ति हूँ, किन्तु वैज्ञानिक युग में जीता हूँ, इसलिए वैज्ञानिक भाषा में बात करना पसन्द करता हूँ, अवैज्ञानिक भाषा में ले जाना पसन्द नहीं करता। अंधविश्वास जैसा मैं कुछ मानता ही नहीं। पुराने लोग कहते थे— यह अंधविश्वास है, यह अंधविश्वास है। मैंने अपनी भाषा बदल दी। किसी को भी अंधविश्वास कहना आज दुःसाहस की बात है। कोई दुःसाहसी व्यक्ति ही कह सकता है कि यह अंधविश्वास है। जिनको हम अंधविश्वास मानते थे, आज वे बातें वैज्ञानिक होती चली जा रही हैं। भावना का प्रयोग आज विज्ञान के क्षेत्र में बहुचर्चित हो रहा है। आज का कोई भी वैज्ञानिक दृष्टि वाला व्यक्ति, जो गुणसूत्रों के बारे में थोड़ा-सा भी

जानता है, वह इस बात को जानता है कि आज जीन पर जो खोजें हो रही हैं, वे भावना के प्रयोग की ही खोजें हैं। आज का वैज्ञानिक इस खोज में लगा है कि जीन को बदलकर पूरे बच्चे को बदल दिया जाए। आज कल्पना तो यह की जा रही है कि आने वाले युग में यह हो जाएगा कि एक वैज्ञानिक अपनी लेबोरेट्री में बैठा है। कोई व्यक्ति जाएगा और कहेगा कि हमें ऐसा बच्चा चाहिए तो वह जीन को बदल देगा। यह जीन ले जाओ, वैसा बच्चा हो जाएगा। बड़ी अजीब-सी बात लग रही है, किन्तु यह काल्पनिक बात नहीं है। इस बात पर आज बहुत काम हो रहा है। इसी विषय में दिल्ली विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर प्रो० मेहरोत्रा ने कहा था— मुनिजी ! आज जीन पर जो काम हो रहा है, उस पर हम भारतीय दर्शन की दृष्टि से क्या कह सकते हैं ? जीन के विषय में आज रारे संसार में बड़ी अद्भुत बातें चल रही हैं। इतनी तेजी के साथ खोजें हो रही हैं कि अगर हम कोई नयी बात दे सकें तो भारत का बहुत बड़ा योग होगा, अनुदान होगा। मैंने कहा— यह तो संभव है, क्योंकि आज जीन की खोजों के द्वारा जो हो रहा है, उसकी कर्मशास्त्र में बहुत विस्तार से चर्चाएं हुई हैं। कर्म-प्रकृतियों को जानने वाला, कर्मशास्त्र का अच्छा अध्येता व्यक्ति इन सारे रहस्यों को समझ सकता है, जो रहस्य आज जिनेटिक इंजीनियरिंग में समझे जा रहे हैं।

मुझे कोई आश्चर्य नहीं लगता कि यदि भावना का वैसा प्रयोग किया जाए तो इच्छित सन्तान प्राप्त की जा सकती है। ज्ञातासूत्र को पढ़ने वाला हर व्यक्ति जानता है कि एक गर्भवती स्त्री के लिए कितने निर्देश दिए गए हैं। ज्ञातासूत्र ग्यारह अंगों में छठा अंग है। उसका पहला अध्ययन है— मेघकुमार। उस अध्ययन में मेघकुमार का प्रसंग है। वहां गर्भ का प्रसंग है, गर्भिणियों का वर्णन है। इतना वैज्ञानिक वर्णन है कि मां को कैसे उठना, बैठना, चलना, खाना तथा किस प्रकार का विचार करना चाहिए। पूरा सांगोपांग वर्णन है। क्योंकि उस अवस्था में माता का जिस प्रकार का विचार, भाव, व्यवहार होता है वैसा ही प्रतिबिम्ब बच्चे पर पड़ता है। कुछ वैज्ञानिकों ने प्रयोग किया कि एक कमरा बिलकुल नीले रंग से रंग दिया। चारों तरफ नीला ही नीला रंग। खरगोश के एक जोड़े को वहां छोड़ा गया। जब बच्चा

हुआ तब देखा गया कि खरगोश के बच्चों के जो केश हैं, उनमें नीले रंग की छाया है। नीले रंग का प्रभाव।

नीग्रो का फोटो सामने था। एक गर्भिणी उसको देखती रहती। बच्चा नीग्रो जैसा पैदा हुआ।

हमारे अन्तर्जगत् में, सूक्ष्म जगत् में भावना का इतना प्रबल प्रभाव होता है कि जिस प्रकार की भावनाएं निरन्तर चलती रहती हैं, व्यक्ति का परिणमन उसी प्रकार होता चला जाता है। हम स्थूल जगत् में बहुत कम बदलते हैं किन्तु भीतर का जगत् इतना बदलता है और सूक्ष्मता से बात को पकड़ता है कि हम सामान्यतः कल्पना ही नहीं कर सकते। यह भावना का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। हिमालय में कितनी भयंकर बर्फ पड़ती है। तिब्बत के योगियों में एक कसौटी थी कि वहां साधक साधना करता और साधना की परीक्षा देनी होती। गुरु परीक्षा लेता तो दो प्रकार का प्रयोग करवाता— बर्फ पर बैठो। बर्फ पर बैठकर पसीना निकाल दे तो कसौटी में उत्तीर्ण। लामा बर्फ की शिला पर बैठता, ध्यान करता, भावना का प्रयोग करता और सारे शरीर से पसीना चूने लग जाता। कसौटी में वह उत्तीर्ण हो जाता। कैसे हो सकता है? ध्यान में बैठो और पसीना निकल आए! हो सकता है, बहुत संभव है। बर्फ पर बैठें, आतप की भावना करें, सूर्य की भावना करें, बर्फ पर बैठे हुए भी पसीना चूने लग जाएगा, सारा शरीर गर्म हो जाएगा।

भगवान् महावीर वस्त्र नहीं रखते थे। क्या यह संभव है, इतनी भयंकर सर्दी को आदमी इस प्रकार सहन कर सके? तर्क हो सकता है कि वे अनन्तशक्तिशाली थे। किन्तु अनन्तशक्ति का मतलब यह थोड़ा ही है कि सर्दी न लगे। अनन्तशक्ति का मतलब यह है कि उनका वीर्य कभी विचलित नहीं होता, चाहे कितने ही भयंकर उपद्रव और कष्ट आ जाएं। उनमें इतना असीम पराक्रम होता है कि उन्हें कोई विचलित नहीं कर सकता। यह भी कड़कड़ाती सर्दी में वे रहते थे। कैसे?—मान लें भगवान् इतने शक्तिशाली थे, पर उनके साथ हजारों मुनि नग्न रहने वाले थे, वे किस प्रकार सहन करते थे? मात्र भावना का प्रयोग। आज भी कुछ मुनि नग्न रहते हैं। आज की चर्चा करना तो मैं पसन्द नहीं करता, क्योंकि वे वस्त्र तो नहीं रखते किन्तु

सुरक्षा के शायद अनेक उपाय काम में लेते हैं। पर महावीर तो अकेले घूमते थे। उनके साथ तो कोई नहीं था, सुरक्षा का कोई उपाय भी नहीं था। फिर कैसे सम्भव था? आचारांग सूत्र में वर्णन मिलता है कि इतनी भयंकर, कंपा देने वाली बर्फीली हवा, जिसमें लोग बाहर निकलते भी नहीं थे, घर के भीतर आग तापते थे, उस भयानक सर्दी में महावीर रात के समय मकान के बाहर जाकर चंक्रमण करते, जहां कहीं धूप आती वहां से उठकर छांह में जाकर बैठ जाते। आखिर यह कैसे सम्भव था? जब भावना का प्रयोग होता है, सर्दी के बीच, हिमालय के बीच बैठकर भी पसीना निकाल देना कोई बड़ी बात नहीं है।

दूसरी कसौटी होती थी— भयंकर गर्मी में शरीर को उसी तरह कंपा देना जैसे भयंकर सर्दी से कांपता है। गर्मी के मौसम में सर्दी की भावना का जप किया जाता है, तो वैसा ही परिणाम हो जाता है। यह बिल्कुल ठीक बात है कि हम भावना के द्वारा चांद जैसी निर्मलता, सूर्य जैसी प्रकाशशीलता और सागर जैसी गम्भीरता को उपलब्ध हो सकते हैं, यदि सिद्धों के प्रति हमारा समर्पण हो, श्रद्धा हो और भावना का प्रयोग हो।

समर्पण का अर्थ होता है— अपने अहंकार का विसर्जन, अपने ममकार का विसर्जन। जब तक व्यक्ति में अहंकार और ममकार होता है, तब तक समर्पण नहीं हो सकता और यह साधना का क्षेत्र ही ऐसा है, जिसमें केवल समर्पण की ही बात है। साधना के क्षेत्र में कोई व्यक्ति प्रविष्ट हो और समर्पण न करे तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। एक सैनिक जितना अपने अधिकारी के प्रति समर्पित होता है, अपनी व्यवस्था के प्रति समर्पित होता है, साधक को उससे भी ज्यादा समर्पित होना होता है।

जापान में एक धर्म चलता है— झेन बौद्ध। बौद्धों का एक सम्प्रदाय है— झेन बौद्ध। एक शिष्य गया अपने गुरु के पास और बोला— गुरुदेव, मैं कौन हूं, यह जानना चाहता हूं। गुरु ने डंडा उठाया और लगा दिया। वहां से दौड़ा हुआ गया वह मुख्य गुरु के पास शिकायत करने के लिए। बोला— गुरुदेव, मैं तो केवल यह जानने के लिए गया था अपने गुरु के पास कि मैं कौन हूं और उन्होंने मुझे डंडे से मारा। गुरु ने कहा— उसने तो डंडा

ही मारा । चला जा, मुझसे यह मत पूछ, अन्यथा मैं डंडा, लात और चांटे भी मारूंगा, क्योंकि जो प्रश्न अपने आप से पूछना है, वह तू मेरे से पूछने आया है । अभी तुझमें समर्पण नहीं आया । सत्य के प्रति अभी तू समर्पित नहीं हुआ है । जब तक समर्पण नहीं आएगा, तेरा अहंकार और ममकार नहीं छूटेगा, तब तक इस प्रश्न का उत्तर तुझे नहीं मिलेगा ।

साधना का मार्ग पूर्ण समर्पण का मार्ग है । हमारे धर्मसंघ में विनय और समर्पण की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएं उपलब्ध हैं । तेरापंथ का इतिहास समर्पण का इतिहास है । परिणाम भी स्पष्ट है कि आज तेरापंथ धर्मसंघ को जो सुषमा मिली है, जो विकास हुआ है, शायद अन्यत्र कम हुआ है । इसका कारण साफ है कि जब गुरु और शिष्य के बीच में तर्क का व्यवहार होता है, केवल बुद्धि का व्यायाम चलता है तो संघ कभी गतिशील नहीं बन सकता । साधना का मार्ग है— अपने अहंकार का विलयीकरण । मैंने जीवन के दोनों पक्षों का अनुभव किया है । तर्कशास्त्र का विद्यार्थी रहा । इसका पूरा प्रयोग किया और बड़ी मल्लकुशितियां भी लड़ीं । बड़ी चर्चाएं हुई हैं विद्वानों के बीच में । किन्तु जहां गुरु का प्रश्न था, वहां पूरा समर्पण का अनुभव किया । यह मेरे जैसा भोला व्यक्ति ही कर सकता था, समझदार व्यक्ति तो ऐसा कर ही नहीं सकता ।

पूज्य कालूगणी पाली में विराज रहे थे, मैं था अध्यापक गुरु तुलसी के पास । किसी कारणवश उनके मन में कोई नाराज़गी हो गई, वे अप्रसन्न हो गए । मुझे नहीं मान्य था कि वे अप्रसन्न रहें । प्रतिक्रमण के बाद मैं गया । वंदना कर बैठा । पैर पर हाथ रख दिया, पैर पकड़ लिया । कुछ कहने की हिम्मत नहीं रही, बैठा रहा और तब तक बैठा रहा जब तक एक प्रहर रात चली गई । न वे बोले, न मैं बोला । वे अपने सोने के स्थान पर चले गए, मैं अपने सोने के स्थान पर चला गया । क्या ऐसा भोलापन कोई समझदार व्यक्ति कर सकता है ? किन्तु मैं जानता हूं कि जहां गुरु हैं वहां तो यह भोलापन ही काम आ सकता है । यदि गुरु और शिष्य में रोज तर्क की लड़ाइयां लड़ी जाएं, परस्पर में टकराव चलता रहे तो गुरु गुरु नहीं, शिष्य शिष्य नहीं, दोनों निकम्मे हैं । गुरु-गुरु नहीं बना, शिष्य शिष्य नहीं बना ।

गुरु आचार्य भिक्षु को मानता हूँ कि जिनमें इतना अनुशासन था कि कोई भी शिष्य तर्क नहीं कर सकता था। ज्ञान के क्षेत्र में बहुत अवकाश था, वहां तर्क की पूरी छूट थी किन्तु जहां व्यवहार का प्रश्न था वहां तर्क की कोई गुंजाइश नहीं। जो कह दिया, वह मान लिया। वहां मानने की बात मुख्य बन जाती है और इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। हमने अभी साधना की दृष्टि से इसका मूल्यांकन नहीं किया। हमने श्रद्धा का प्रयोग ज्ञान के क्षेत्र में किया जो कि नहीं होना चाहिए। श्रद्धा का प्रयोग मात्र साधना के क्षेत्र में होना चाहिए। ज्ञान का क्षेत्र श्रद्धा का क्षेत्र नहीं है। वहां तो बहुत तर्क किया जा सकता है। सारे कठोर तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। श्रद्धा का क्षेत्र है— साधना का क्षेत्र। हमारा मन जितना निर्विकल्प होगा, वह काम हो जाएगा, बिलकुल हो जाएगा। एक भी विकल्प उठा तो आप मान लीजिए कि सफलता भंग हो गई। थोड़ी-सी रेत उठाई— पानी में डालकर पी ली— भयंकर बीमारी मिट गई। क्या वह रेत का कोई चमत्कार है। इस भ्रम में न जाएं कि यह किस व्यक्ति के पैर की रज है। यह श्रद्धा का चमत्कार है ? मन में इतना दृढ़ विश्वास हो गया तो जो होने वाला है, वह निश्चित ही वैसा हो जाएगा। उसमें कोई अन्तर आने वाला नहीं है। कोई ताकत ऐसी नहीं, जो उसको बदल दे। किन्तु श्रद्धा निश्छिद्र होनी चाहिए, प्रगाढ़ होनी चाहिए। हमारा समर्पण वैसा होना चाहिए। हमारे अहंकार और ममकार का पूर्ण विलय होना चाहिए।

आचार्य भिक्षु ने कहा— कोई किसी का शिष्य नहीं होगा, शिष्या नहीं होगी। सारे शिष्य आचार्य के होंगे। जयाचार्य ने व्यवस्था दी कि पुस्तक पन्ने अपने नहीं होंगे। यह क्यों ? ममकार को मिटाने के लिए। जब तक ममकार नहीं मिटेगा, समर्पण पूरा होगा नहीं, काम पूरा बनेगा नहीं। जब तक अहंकार नहीं मिटेगा, समर्पण नहीं होगा।

एक बहुत पहुंचे हुए संत थे। इतनी साधना की कि उनका यश चारों ओर फैला। यहां तक कि उनकी कीर्ति देवताओं तक भी पहुंची। एक देवता आकर बोला— महाराज ! आपकी कीर्ति-सुगन्ध चारों ओर फैल रही है। आप महान् तपस्वी और साधक हैं। मुझ पर कृपा करें। मैं आपको कुछ वरदान

देना चाहता हूँ। साधक बोला— मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं अपने में संतुष्ट हूँ। देव बोला— नहीं, मुझ पर आपको कृपा करनी ही होगी। मैं कुछ देना चाहता हूँ, आप उसे स्वीकार करें। साधक नकारता रहा और देव स्वीकार करने की प्रार्थना करता रहा। देव ने हठ पकड़ लिया। अन्त में साधक ने कहा— अच्छा, तुम कुछ देना ही चाहते हो तो बताओ क्या दोगे ? देव ने कहा— मैं आपको ऐसा वरदान दूंगा कि आप यदि मूर्च्छित या मृत व्यक्ति की ओर आंख उठाकर देख लेंगे तो वह जीवित हो उठेगा। साधक ने कहा— इसके साथ-साथ मेरी गर्दन को इस प्रकार कर देना कि वह पीछे मुड़कर देख न सके। यह सुनकर देव आश्चर्यचकित रह गया। उसने पूछा— ऐसा क्यों ? साधक बोला— देखो, तुम्हारे इस वरदान से मेरी जय जयकार होगी। लोग मेरी पूजा करेंगे। यह सब अहंकार को बढ़ाने का उपाय बनेगा। मैं उससे छूट चुका हूँ। फिर कहीं उसमें न फंस जाऊँ।

सचमुच हमारा अहंकार इतना विलीन हो जाए कि क्या हो रहा है, यह देखने के लिए गर्दन मुड़े नहीं। केवल वर्तमान को, सामने को देखते रहें। यदि ऐसी स्थिति जागती है, अहंकार और ममकार का इतना विलय होता है तो भावना का प्रयोग सफल होता है। भावना के क्षेत्र में बहुत बड़ा मंगल होता है— समर्पण, बहुत बड़ा मंगल होता है— श्रद्धा। जिस व्यक्ति ने श्रद्धा का मूल्यांकन किया, समर्पण का मूल्यांकन किया, अहंकार और ममकार का विलय किया, उसके लिए सारा संसार मंगलमय बन गया। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है, वे तो हमारे ही जैसे पुरुष थे। वे साधना के द्वारा अहंकार और ममकार का विलय कर सत्य के प्रति, धर्म के प्रति, अपना पूर्ण समर्पण कर इस प्रकार के मंगलमय पुरुष बन गए कि उनके प्रति समर्पण करने वाला व्यक्ति भी स्वयं मंगलमय बन जाता है, चारों दिशाएं उसके लिए मंगलमय बन जाती हैं।

भावना का प्रयोग मात्र जानने और लिखने का प्रयोग नहीं है। मैं इस बात में विश्वास नहीं करता जो केवल लिखी गई हो, उस पर साधना न की गई हो। हम केवल लिखें, बोलें और अपने जीवन में कोई अभ्यास या प्रयोग न करें तो यह वही बात होगी कि दूसरों को समृद्धि का पाठ पढ़ाना और

स्वयं फटेहाल जीवन बिताना । हम स्वयं साधना का प्रयोग करें, मंगल का प्रयोग करें, स्वयं उनकी सूत्र-पद्धति में जाएं तो सचमुच हमारे लिए सारी दिशाएं मंगलमय बन जाएंगी । यह मंगलसूत्र की साधना का बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है ।

“आरोग्य-बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु”- इसमें भावना की गई है कि सिद्ध ! आपके द्वारा मुझे आरोग्य मिले, बोधि मिले, समाधि मिले । जीवन की हमारी तीन भावनाएं होती हैं ।

आरोग्य- शरीर का आरोग्य, मन का आरोग्य और भावना का आरोग्य ।

बोधि मिले, चेतना मिले ।

समाधि मिले ।

आधि-उपाधि के चक्रव्यूह से निकलकर हम समाधि की अवस्था में जा सकें तो उससे बड़ा दुनिया में कोई मंगल नहीं हो सकता । हम भावना करें और सूक्ष्म मन की सारी शक्ति को जुटाकर भावना करें । आधि, व्याधि और उपाधि- शरीर की बीमारी, मन की बीमारी और कषाय की बीमारी- इन तीनों से मुक्त होकर हम समाधि के क्षेत्र में प्रवेश करें । धर्म हमारे लिए इसीलिए मंगल है कि इसके द्वारा व्याधि, आधि और उपाधि से मुक्ति मिलती और समाधि के द्वार में प्रवेश संभव होता है ।

वंदना

वंदना या अभिवादन एक शिष्टाचार है। शिष्ट वह है, जो अनुशासित है। जिस समाज में अनुशासन है, व्यवस्था है, सौन्दर्य है, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की समन्विति है, वह समाज शिष्ट है। बोलना, चलना, उठना, बैठना— ये सारे शिष्टाचार में निहित हैं। अभिवादन शिष्टाचार का एक अंग है। उद्दण्ड व्यक्तित्व कभी अभिवादन नहीं कर सकता। अभिवादन व्यावहारिक भी है और आध्यात्मिक भी है। धर्म के क्षेत्र में वंदना का जितना मूल्य या महत्त्व है, व्यवहार के क्षेत्र में भी उसका उतना ही महत्त्व और मूल्य है। कहा गया—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते, आयुर्विद्यायशोबलम् ॥

जो व्यक्ति अभिवादन करना जानता है, करता है, नित्य अनुभवी लोगों की सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होती है।

बढ़ता है आयुष्य

अभिवादन से विद्या और यश की प्राप्ति तो होती है, किन्तु आयुष्य और बल कैसे बढ़ते हैं ? यह प्रश्न हो सकता है। यह बहुत गहरी बात है। वाल्मीकि रामायण में कई स्थानों पर कहा गया है— यह आचरण आयुष्य है। आयुष्य ऐश्वर्य और अनायुष्य अनैश्वर्य। आयुर्वेद में एक रसायन को सबसे उत्तम रसायन माना गया है, उसका नाम है— आचार रसायन। पारद, गंधक आदि भौतिक रसायनों के अतिरिक्त यह भी एक रसायन है। विनम्रता, शालीनता आदि का भी रसायन होता है। ये सब आचार रसायन के अन्तर्गत

आ जाते हैं। जो आचार का पालन करते हैं, अनुशीलन करते हैं, वे सचमुच एक रसायन का अनुभव करते हैं और वह रसायन उनकी आयु को बढ़ाता है। इसे दूसरे दृष्टिकोण से देखें। स्थानांगसूत्र में अकालमृत्यु के सात कारण बताए गए हैं। सात कारणों से आदमी बेमौत मरता है। इनमें एक कारण है अध्यवसाय। राग और द्वेष का तीव्र अध्यवसाय होता है तो आयुष्य घट जाता है, अकाल मृत्यु हो जाती है। क्रोध, लोभ, भय की तीव्रता आदमी को असमय में मार देती है।

हार्ट फेल हो गया

सौराष्ट्र की घटना है। किसी गरीब के लाटरी उठी। अधिकारियों ने विचार किया—निर्धन आदमी है। एक साथ पांच लाख रुपए मिलने की बात सुनते ही कहीं खुशी से मर न जाए। अकस्मात् अति प्रसन्नतासूचक खबर सुनकर आदमी का हार्ट फेल हो जाता है। एक डाक्टर ने यह जिम्मेदारी ली—इस समाचार को मैं ऐसे ढंग से बयान करूंगा कि वह इस खबर को झेल लेगा। डाक्टर उसके पास गया। सुनियोजित ढंग से बातचीत करते हुए बोला—तुम एक गरीब आदमी हो। तुम्हारे पास एक टूटी झोंपड़ी, कुछ टूटे-फूटे बर्तन और दो-चार फटे पुराने कपड़ों के सिवाय कुछ नहीं है। ऐसे में अगर तुम्हें दस हजार रुपए मिल जाएं तो ? गरीब ने कहा—ऐसे कहां मिलने वाले हैं दस हजार।

डाक्टर बोला—नहीं, मान लो मिल ही गए तो ?

‘उसमें से पांच हजार रुपए आपको दे दूंगा।’

‘यदि पचास हजार मिल जाएं तो ?’

‘पच्चीस हजार आपके।’

‘यदि लाख मिल गए तो ?’

‘पचास हजार आपके।’

‘यदि तीन लाख मिल जाएं तो।’

गरीब आदमी झुंझलाते हुए बोला—‘मैंने कह दिया, जो मिलेगा, उसमें आधा आपका।’

‘पांच लाख मिल जाएं तो ?’

‘उसमें भी आधा आपका, ढाई लाख आपको दे दूंगा ।’

ढाई लाख मेरा ?

मेरा कहते ही आंखें फटी की फटी रह गईं । डाक्टर का हार्ट फेल हो चुका था ।

बढ़ने का अर्थ

यह आवेश की तीव्रता दिल और दिमाग पर सीधा असर डालती है । अध्यवसाय की तीव्रता आयु को क्षीण करती है । अभिवादन करने से आयु बढ़ती है, इसका कारण स्पष्ट है— जो व्यक्ति विनम्र है, अभिवादन करता है, उसके अहं का अध्यवसाय तीव्र नहीं होता । जिसके कषाय शान्त होते हैं, अध्यवसाय की पवित्रता रहती है, सचमुच उसका आयुष्य बढ़ जाता है । बढ़े भले ही नहीं, कम नहीं होता है, टूटता नहीं है । बढ़ने के दो अर्थ हैं इस सन्दर्भ में । एक अर्थ है— सीमा के आगे बढ़ जाना । लेकिन यह संभव नहीं है । यह बात शास्त्र और विज्ञान की दृष्टि से भी संभव नहीं है । आयु जितनी है, उससे ज्यादा बढ़ नहीं सकती । यदि घटे नहीं तो इसका तात्पर्य यही है कि बढ़ गईं ।

पं० रविशंकर का कथन

पं० रविशंकर महाराज गुजरात के बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति थे । बिहार प्रदेश में भीषण अकाल पड़ा । सर्वोदय कार्यकर्ताओं के साथ वे वहां गए । राज्य कर्मचारियों ने उनसे निवेदन किया— महाराज ! सरकार से सिफारिश करके हमारा वेतन आप बढ़वा दें । रविशंकर महाराज ने कहा— ‘ठीक है, मैं सरकार से कहूंगा, किन्तु आप चाहें तो सौ रुपए तक तो मैं ही बढ़ा सकता हूं ।’ लोग आश्चर्य चकित थे । उन्होंने पूछा— ‘यह कैसे हो सकता है ? आप तो यहां शासन में भी नहीं हैं ।’ रविशंकरजी ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए पूछा— ‘तुम लोग सिगरेट पीते हो ?’ लोगों ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया । कुछ लोगों ने शराब पीने की बात भी स्वीकार की । रविशंकरजी बोले—

सिगरेट, शराब छोड़ो, फिर देखो, कम से कम सौ रुपये तुम्हारे बचते हैं कि नहीं ?

शक्ति घटती है आवेश से

यह भी एक प्रकार का बढ़ना है। एक है वेतनमान का बढ़ना। दूसरा यह है— जो है, उसमें से घटाएं नहीं, निश्चय ही यह बात बढ़ने के रूप में ली जाएगी। आयुष्य की भी ठीक यही बात है। जिस व्यक्ति का जितना आयुष्य बंधा हुआ है, उससे ज्यादा तो हो ही नहीं सकता। किन्तु उसमें से घटने की गति को हम रोक सकते हैं, कम कर सकते हैं। इस दृष्टि से देखें तो पाएंगे कि पूरा जीवन विरले ही लोग जीते हैं। प्रायः व्यक्ति की अकाल मृत्यु होती है। जो अपने आवेश, उत्तेजना को शान्त रखता है, निश्चय ही अपने आयुष्य को बढ़ा लेता है।

आवेश और उत्तेजना हमारी शक्ति का हास करते हैं। शरीरशास्त्रियों का मत है— एक घण्टे का तीव्र क्रोध नौ घण्टे की जीवनी शक्ति को कम कर देता है। क्रोध शरीर में भयंकर जहर पैदा करता है। प्रत्येक आवेश के साथ हमारी जीवनी-शक्ति कम होती जाती है। अभिवादनशील व्यक्ति का इसलिए आयु और बल बढ़ता है कि वह आवेग-आवेश के संतलन का सूत्र सीख लेता है।

स्वास्थ्य का सूत्र

प्रातः और सायं लोग वंदना के लिए आते हैं। सब साधु-साध्वियों को वंदना करते हैं। उसमें काफी उठ बैठ हो जाती है। उससे आयु क्यों नहीं बढ़ेगी। वंदना करने वाला अपने अहं का विसर्जन करता है। आज शारीरिक श्रम की पद्धति बहुत कम है। हजार व्यक्तियों में शायद दस-पांच व्यक्ति ही व्यायाम करते होंगे अथवा दो चार किलोमीटर भ्रमण करते होंगे। पंचांग प्रणति वंदना में एक तरह से आसन का अभ्यास हो जाता है। जब गुरुदेव जैन विश्व भारती लाडनूं में विराजते हैं तब वहां आने वाले लोग कहते हैं— महाराज ! आप यहां विराजते हैं तब हमारी बहुत सारी बीमारियां मिट जाती

हैं। सुबह-शाम दर्शनार्थ आने में दो-चार किलोमीटर का चक्कर तो लग ही जाता है। यह बात स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। शरीर में रक्त-संचार ठीक से होता रहे, पाचनतंत्र ठीक काम करता रहे तो शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होगा। यह रक्त-संचार और पाचनतंत्र की प्रणाली ठीक काम तभी करेगी, जब शरीर को श्रम मिलेगा। श्रम शरीर के सारे अवयवों को संचालित और नियंत्रित करता है। वंदना से शरीर को श्रम मिलता है, शारीरिक स्वास्थ्य का अनुभव होता है।

वंदना : परिणाम

गौतम ने महावीर से पूछा— भंते ! वंदना से जीव को क्या लाभ होता है ?

भगवान् ने कहा— गौतम ! वंदना से जीव नीच गोत्र कर्म को क्षीण करता है, उच्च गोत्र कर्म को बांधता है।

वंदना या अभिवादन नीच गोत्र को खपा देते हैं। गौतम स्वामी की यह विनम्रता ही थी कि वे स्वयं चलकर केशी स्वामी के यहां गए और केशी मुनि ने भी उचित विनम्र व्यवहार उनके साथ किया। देखने वाले चकित रह गए।

वंदना विधि

आवश्यक के छह अध्ययन हैं। उनमें से एक है वंदना। यह एक स्वतंत्र अध्ययन है। गुरु के पास शिष्य जाता है, उसकी एक निश्चित विधि है। शिष्य गुरु से कुछ दूर खड़ा होकर कहेगा— भंते ! अणुजाणाह मे मेउगहं— आपका जो मित अवग्रह है, क्या मैं उसमें प्रवेश करूं ? पहले वह इस प्रकार अनुमति मांगेगा, फिर उनके पास जाएगा, ऐसे ही सीधा अकड़ता हुआ नहीं जाएगा। वह गुरु की आज्ञा प्राप्त होने पर ही उनके पास जाएगा। अनुमति न मिले तो वहीं दूर से ही वंदना कर लेगा। वंदना में तीन बार प्रदक्षिणा कर वह गुरु का चरण-स्पर्श करता है। इतना करने के बाद वह फिर पूछता है— ‘भंते ! आज का दिन शुभ वीता ? आज का दिन कल्याणकारी रहा ?

किसी प्रकार की आपको असुविधा तो नहीं हुई ?

आचार्य इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं । शिष्य संतुष्ट हो जाता है । इस सुन्दर विधि को अर्थ के साथ समझा जाए और इसका प्रयोग किया जाए तो सुन्दर शिष्याचार फलित होता है, जनता को शिष्याचार का प्रशिक्षण मिलता है । आज यह अपेक्षा है— इस दृष्टि से समाज इतना शिष्ट लगे कि देखते ही उसकी पहचान स्पष्ट हो जाए ।

शिष्याचार की पहचान बने

राजगढ़ की घटना है । एक जैन सम्प्रदाय के आचार्य वहां आए, व्याख्यान दिया । व्याख्यान में उन्होंने कहा— कोई इतनी कोड़ियों के फूल चढाए तो इतने देशों का राज्य मिले । लोग सुनते रहे । राजगढ़ के एक श्रावक भीमराजजी खड़े हुए । वे बोले— दुहाई हो महाराज, बड़ी अद्भुत बात आपने कही— इतनी कोड़ियों के फूल से इतना बड़ा राज्य मिलता है । मैं सैकड़ों रुपयों का फूल चढा दूंगा, मुझे कई देशों का नहीं, सिर्फ राजगढ़ का राज्य चाहिए । एक राजगढ़ का ही राज्य मिल जाए तो निहाल हो जाऊं । आचार्यजी बोले— क्या तुम तेरापंथी हो ? पारखजी बोले— महाराज ! आपने ठीक ही पहचाना, मैं तेरापंथी हूं ।

श्रावक की यह एक पहचान रही है । ऐसे ही एक पहचान शिष्याचार की बन जाए । आज धर्मस्थानों में इतनी धक्का-मुक्की होती है कि कुछ पूछिए मत । इस ज्वलंत समस्या का समाधान हो जाए । हमारी यह शिष्टता बोल-चाल में, उठने, बैठने और चलने में स्पष्ट झलकनी चाहिए । यह पहचान बहुत आवश्यक है और इसके सन्दर्भ में वंदना का पाठ बहुत महत्त्वपूर्ण है । इसे समझ लिया जाए तो सचमुच एक बहुत बड़ा परिवर्तन संभव है ।

प्रतिक्रमण

आध्यात्मिक भूमिका पर कोई भी व्यक्ति खुला नहीं होता। दूध का पात्र खुला पड़ा है तो भीतर मक्खी पड़ने की संभावना रहती है। इसीलिए उस पर ढक्कन दे देते हैं। घर की छत को कोई खुला नहीं रखता। प्रत्येक घर की छत बन्द होती है, इसलिए कि धूप से बचाव हो सके, सर्दी-गर्मी से बचाव हो सके, आंधी और वर्षा से बचाव हो सके। प्रत्येक घर में दरवाजे लगे हुए हैं, इसलिए कि हर कोई उसमें न घुस जाए। वांछित आए, किन्तु अवांछित न आए। प्रत्येक व्यक्ति ने हर दृष्टि से सुरक्षा की व्यवस्था कर रखी है। आध्यात्मिक व्यक्ति सुरक्षा की व्यवस्था रखता है।

भौतिकवाद : अध्यात्मवाद

आज की दुनिया दोवादों में बंटी हुई है— भौतिकवाद और अध्यात्मवाद। दर्शनिक भाषा को छोड़ दें, केवल अध्यात्मशास्त्रीय भाषा में बात करें तो कहा जा सकता है— जो व्यक्ति सर्वथा खुला है, मानना चाहिए कि वह पदार्थवादी आदमी है। जिस व्यक्ति ने अपनी खुलावट पर कोई ढक्कन रख छोड़ा है, छत बनाई है, किवाड़ लगाए हैं, उसका नाम है अध्यात्मवादी। अध्यात्मवादी बिल्कुल खुला नहीं रहता, कहीं न कहीं आवरण जरूर रखता है और इसलिए रखता है कि यह जगत् अनेक मलिनताओं का जगत् है। राग और द्वेष— ये निरंतर मलिनता का विकिरण कर रहे हैं।

संक्रामक है दुनिया

आजकल अणुधूलि का विकिरण बहुत हो रहा है। केवल उन राष्ट्रों

में ही नहीं, जिन्होंने अणु-विस्फोट किये हैं, किन्तु उनमें भी अणु-विकिरण हो रहा है, जहां अणु-परीक्षण नहीं हुए हैं। इसीलिए आज कहा जाता है कि दूध को बिना उबाले न पीया जाए। पहले यह कहा जाता था कि दूध को बिना उबाले पिया जाए। आज तो पानी भी बिना उबाले पीने लायक नहीं रह गया है। कहा जा रहा है कि सचित्त का त्याग हो या न हो, उबला हुआ पानी ही पिया जाए। बड़े शहरों में तो यह अनिवार्य-सा हो गया है। डाक्टर यह भी सुझाव देते हैं कि उबाले बिना फल भी न खाया जाए। सचित्त और अचित्त से भी मुख्य प्रश्न हो गया है स्वास्थ्य और बीमारी का। इसका कारण स्पष्ट है। कुछ न कुछ ऊपर से आ रहा है, जहर के रूप में बरस रहा है और नीचे से भी आ रहा है। उर्वरकों और रसायनों के रूप में धरती पर जो घोला जा रहा है, उसके परिणाम क्या लाभकारी होंगे? प्रत्येक आदमी के पेट में रोज अन्न-पानी के साथ एक निश्चित मात्रा में जहर प्रवेश कर रहा है। बचाव का कोई रास्ता नहीं है। ऐसा बचा ही क्या है, जिसके साथ में जहर न जाए? एक प्रकार से पूरी दुनिया ही संक्रामक हो गई है।

मानसिक स्तर पर

मानसिक स्तर पर देखें। मन पर कितना विकिरण हो रहा है? राग द्वेष प्रायः हर व्यक्ति में है। अणु-विस्फोटों ने अणुधूलि का जितना विकिरण किया है और जितनी बीमारी की संभावनाएं पैदा की हैं क्या मानसिक स्तर पर उससे कम विकिरण हो रहा है? पूरा वायुमंडल ही राग-द्वेष के परमाणुओं से भरा है। इस अवस्था में व्यक्ति कच्चा दूध पिये तो क्या वह निरापद हो सकता है? मन को कैसे ही खुला छोड़ दें, उस पर कोई छत या ढक्कन न डालें तो वह कितना भारी और बोझिल बन जायेगा। मानसिक समस्याएं इसीलिए बढ़ी हैं। एक भाई ने अपनी समस्या प्रस्तुत की— ‘मन इतना चंचल और बेचैन रहता है कि उस पर अब मेरा कोई नियंत्रण ही नहीं रह गया। अनेक दुष्कल्पनाएं निरंतर आती रहती हैं, इसका कारण क्या है?’ मैंने कहा— ‘कारण तो बहुत साफ है। जब तक मन पर कोई ढक्कन नहीं डालोगे, तब तक ऐसा चलता रहेगा।’

महत्त्व व्रत का

भारतीय चिंतन में व्रत का बहुत महत्त्व रहा है। इसका बहुत विकास भी हुआ है। इस शब्द का मूल अर्थ ही है छत। संस्कृत की धातु है वृत्तु संवरणे अर्थात् आच्छादन कर देना। किसी चीज को ढांक देने का नाम है व्रत। छत बना ली, व्रत हो गया। मन पर एक छप्पर डाल दिया, व्रत हो गया। कुछ नहीं डाला, मन खुला रह गया तो हर चीज घुस जायेगी। खुले घर में चोर-उचक्के घुस सकते हैं और जंगली जानवर भी घुस सकते हैं।

एक पंडित यात्रा पर निकला। जंगल में उसे भूख लगी। एक जगह को साफ कर उसे लीपा और चूल्हा बनाया। फिर ईंधन इकट्ठा करने कुछ दूर निकल गया। वापस आया तो देखा, वहां एक गधा बैठा है। चौका खुला था, गधे को वहां बैठने से कौन रोक सकता था? पंडित हैरान रह गया। वह बोला— 'गर्दभराज ! कोई दूसरा इस तरह आकर बैठा होता तो उससे कहता— देखते नहीं, गधे हो क्या? अब आप स्वयं यहां आकर विराज गए हैं तो क्या कहूं, आपको क्या उपमा दूं।'

संस्कार व्रत का

घर खुला रहेगा तो उसमें गधा भी घुसेगा और कुत्ता भी घुसेगा। यह खुलावट एक बड़ी समस्या है। इसीलिए जीवन में व्रत का विधान किया गया। पुराने संत लोगो को इस भाषा में समझाया करते थे— 'भाई ! अधिक नहीं तो कम-से-कम एक व्रत ले लो कि कौए को नहीं मारूंगा, किसी चिड़िया को नहीं मारूंगा।' कौए को मारने का कब कितना काम पड़ता है? लेकिन यह इसलिए कहा जाता था कि इससे एक संस्कार शुरू होता था। जीवन में कोई न कोई छोटा-सा व्रत या त्याग तो होना ही चाहिए। बड़ा महत्त्व है व्रत का। जिस व्यक्ति ने इसका मूल्यांकन किया है, उसने एक तरह से अपनी मानसिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। मन की गति बहुत तीव्र है। विज्ञान अभी तक ऐसा कोई यंत्र विकसित नहीं कर पाया है, जो इसकी रफ्तार को माप सके। जब इतनी तेज रफ्तार हो और उस पर कोई नियंत्रण न हो तो दुर्घटना अवश्यंभावी है। मन के अश्व की लगाम

हाथ में होनी चाहिए। व्रत का मतलब है मन की लगाम को अपने हाथ में लेना, मन की डोर अपने हाथ में रखना।

आत्म-निरीक्षण

व्रत होने पर भी मन की चंचलता विद्यमान है। चंचलता एकदम समाप्त नहीं हुई है। छत में भी कभी-कभी कोई दरार या छेद रह जाता है। किवाड़ में भी सुराख रह जाता है, दरवाजे ढीले रह जाते हैं। इसके लिए क्या करना चाहिए? उपाय बताया गया— प्रतिक्रमण करो। प्रतिक्रमण का पहला कार्य है आत्मनिरीक्षण। अपने आपको देखना शुरू करें। बड़ा कठिन काम है अपने आपको देखना। हमारी इन्द्रियों की बनावट ही ऐसी है कि इनके द्वारा हम बाह्य जगत से संपर्क स्थापित करते हैं। वहां दूसरा ही दूसरा नजर आता है, अपने नाम का कोई तत्त्व वहां नहीं है। आंख का काम है देखना। हम दूसरों को देखेंगे। कान का काम है सुनना। हम दूसरों की बात सुनेंगे। हमारी प्रकृति ही ऐसी बन गई है कि इन्द्रियां केवल बाहर ही बाहर केन्द्रित रहती हैं, स्व-दर्शन बिल्कुल विस्मृति में चला जाता है। आत्मनिरीक्षण का अर्थ है अपने आपको देखना। आंख खुली हो या बन्द, उससे अपने आपको देखें। अपने आचरण को देखें, अपने कर्तृत्व को देखें, क्रियमाण को देखें और करिष्यमाण को भी देखें।

धार्मिक का लक्षण

आत्मनिरीक्षण प्रतिक्रमण का पहला चरण है। जो आत्मनिरीक्षण करना नहीं जानता, वह शायद धार्मिक नहीं हो सकता और आध्यात्मिक तो हो ही नहीं सकता। धार्मिक होने का सबसे बड़ा सूत्र है अपने आपको देखना। किसी ने झगड़ा किया, गाली दी। उससे पूछा जाए कि ऐसा क्यों किया? वह यही कहेगा कि मैं क्या करूं? उसने मुझे गाली दी तो मैंने भी दी। यह कभी नहीं कहेगा कि मैंने दी। सदा यही कहेगा कि पहले उसने दी, इसलिए मैंने भी दी। व्यक्ति हर बात में दूसरे को सामने रखता है। किसी से पूछा जाए कि तुमने ऐसा क्यों किया? यही उत्तर मिलता है— मुझे ऐसा करना

पड़ रहा है। वह ऐसा कर रहा है तो मैं क्या न करूँ ? यह कभी स्वाकार नहीं करेगा कि मेरी भूल हुई है। मैंने जो किया या कर रहा हूँ, वह अच्छा नहीं है। दूसरे पक्ष का भी यही उत्तर होगा। दोनों ही अपने को निर्दोष बताएंगे। दोष कहां है, इसका पता ही नहीं चल पाता। यह सब इसलिए हो रहा है कि आत्मनिरीक्षण नहीं है। आत्मनिरीक्षण की भावना जाग जाए तो व्यक्ति यही कहेगा कि हां, मेरी भूल हुई है।

आध्यात्मिक व्यक्ति वह होता है, जो प्रत्येक स्थान पर यह देखता है कि मेरी कमी कहां है। जहां 'दूसरा' आता है, अध्यात्मवाद वहीं समाप्त हो जाता है। जो अपने आपको धार्मिक और आध्यात्मिक मानते हैं, क्या वे ऐसा आचरण नहीं कर रहे हैं, जो एक भौतिकवादी करता है। यदि एक धार्मिक व्यक्ति ऐसा कहे कि दूसरे ने मेरे साथ ऐसा किया इसलिए हम भी वैसा कर रहे हैं तो मानना चाहिए कि वह धार्मिक बना ही नहीं है। निश्चय ही उसका मस्तिष्क अभी भौतिकवादी बना हुआ है। इसीलिए वह स्वयं की ओर से आंख मूंद कर दूसरों पर दोषारोपण करता है।

संन्यासी अवाक् रह गया

एक संन्यासी जा रहा था। रास्ते में देखा— एक स्त्री पेड़ के नीचे लेटी हुई है। पास में ही एक बोटल रखी हुई है। एक पुरुष उस स्त्री के समीप बैठा उसके सिर पर हाथ फेर रहा है। संन्यासी की भृकृति तन गई। वह कठोर वाणी में बोला— 'संध्या का समय है। धर्म-ध्यान करने के समय तुम ऐसा निकृष्ट आचरण क्यों कर रहे हो। अनेक दुर्वचन कहता हुआ वह संन्यासी आगे बढ़ गया। सामने कल-कल नदी बह रही थी। उसी समय नदी में बहती हुई एक नौका तेज हवा में जोर से डगमगाई। कई आदमी लड़खड़ा कर नदी में गिर गए। पेड़ के नीचे बैठे आदमी ने यह दृश्य देखा। क्षण भर का भी बिलब किये बिना वह दौड़ता हुआ आया और पानी में कूद गया। स्वयं की परवाह न करते हुए उसने तैर कर एक-एक कर सब लोगों को पानी से निकाला और फिर चुपचाप पेड़ के नीचे उस स्त्री के पास चला गया। संन्यासी अपनी आंखों से यह सारा दृश्य देख अवाक् रह गया। वह

जुनः पेड़ के पास गया और बोला— ‘भाई, तुमने तो बड़ा उपकार का कार्य किया है, साधुवाद है तुम्हें।’ वह व्यक्ति बोला— ‘मुझे आपका साधुवाद नहीं चाहिए। आप संन्यासी जैसे दीखते जरूर हैं, किन्तु मैं आपको संन्यासी नहीं मानता। बिना कुछ ध्यान दिये आपने मुझ पर घृणित आरोप लगा दिया। आप नहीं जानते हैं, यह मेरी मां है, जो बीमार हैं और यह शराब की नहीं, दवा की बोतल है।’

जहां व्यक्ति दूसरे को देखता है, वहां आरोप की भाषा चलती है। प्रत्येक घटना में अपने आपको देखना शुरू कर दें तो जीवन में एक अपूर्व परिवर्तन की अनुभूति होने लगेगी। प्रतिक्रमण का पहला चरण शुरू हो जायेगा, जीवन की बहुत सारी समस्याएं सुलझनी शुरू हो जाएंगी।

आत्म निरीक्षण का प्रारूप

भगवान् महावीर ने आत्मनिरीक्षण की सुन्दर विधि प्रतिपादित की। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुशीलन करे—

किं मे कडं— आज मैंने क्या किया ?

किं च मे किच्च मे सेसं— मेरे लिए क्या कार्य करना शेष है ?

किं सक्कणिज्जं न समायरामि— वह कौन-सा कार्य है, जिसे मैं कर सकता हूं पर प्रमादवश नहीं कर रहा हूं।

किं मे परो पासई किं व अप्पा— क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा मैं अपनी भूल को स्वयं देख लेता हूं ?

किं वाहं खलियं न विवज्जयामि— वह कौन-सी खलना है, जिसे मैं छोड़ नहीं रहा हूं।

यह आत्मनिरीक्षण का एक प्रारूप है। जो व्यक्ति इसके अनुसार आत्मनिरीक्षण करना शुरू कर देता है, वह सचमुच प्रतिक्रमण की दहलीज पर पांव रख देता है।

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग हमारी पांचवीं आवश्यकता है। काया का उत्सर्ग या त्याग करना कायोत्सर्ग है। आदमी मरता है, तब काया का उत्सर्ग होता है। किन्तु जीवित अवस्था में काया की प्रवृत्ति को छोड़ देना एक साधना है। अध्यात्म और स्वास्थ्य की दृष्टि से इसका बहुत मूल्य है। आज यह पूरे विश्व में चिकित्सा के क्षेत्र में बहुत लोकप्रिय हो रहा है। कोई दांत निकलवाने जाता है तो डाक्टर सुझाव देता है— शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दें। डाक्टर नाड़ी को भी देखता है तो कहता है— शरीर को ढीला छोड़ो। जहां भी शरीर में अकड़न या तनाव आता है, शरीर की क्रिया बदल जाती है।

सबसे पहले है शरीर

आज शरीर को ढीला छोड़ देने का प्रयोग बहुत चलने लगा है। हठयोग में श्वासन का महत्त्व रहा है। यह बहुत कुछ कायोत्सर्ग जैसा ही है। किन्तु जैन परंपरा में कायोत्सर्ग का बहुत महत्त्व रहा है। यदि हम भारतीय दर्शन और चिन्तन को देखें तो दो प्रकार की विचारधाराएं परिलक्षित होती हैं। एक विचारधारा का मत है— **मन एवं मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः** मन ही मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण है। भगवान् महावीर ने इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा— सबसे पहले काय-दण्ड या शरीर है। कुछ दर्शन मन को ही सब कुछ मान कर चलते हैं। महावीर का सिद्धान्त है— मन ही सब कुछ नहीं है, काया का भी बहुत महत्त्व है। जो काया की शुद्धि नहीं करते, उसका उत्सर्ग करना नहीं जानते, मन की समस्या को कभी सुलझा नहीं सकते। महावीर ने तीन प्रकार के दण्ड बतलाए— **मणदण्डे, वयदण्डे, कायदण्डे**— मनोदण्ड, वचन-दण्ड और काय-दण्ड।

शरीर की मूल्यवत्ता

शरीर का बहुत महत्त्व क्यों है ? इसलिए है कि मन शरीर से बहुत प्रभावित होता है। आयुर्वेद में तीन दोष माने गए हैं— वात, पित्त और कफ। ये तीनों मन को प्रभावित करते हैं। शरीर में वायु का प्रकोप बढ़ जाने से अकारण भय लगने लगता है, मन की चंचलता बढ़ जाती है। यदि पित्त बढ़े तो गुस्सा ज्यादा आने लग जाएगा, चिड़चिड़ापन बढ़ जायेगा, उत्तेजना बढ़ जाएगी। कफ की वृद्धि लोभ पैदा करती है। मेडिकल साइन्स में माना जाता है— मनुष्य का व्यवहार-आचार हार्मोन्स के आधार पर निर्मित होता है और उसमें भी विशेषकर न्यूरोट्रांसमीटर के आधार पर बनता है। जैसा न्यूरोट्रांसमीटर होता है, वैसा ही आचार और व्यवहार होता है। वात, पित्त और कफ इसी शरीर में पैदा होते हैं और न्यूरोट्रांसमीटर भी इसी शरीर में पैदा होते हैं। शरीर मन को प्रभावित करता है। इसलिए सबसे पहले शरीर पर ध्यान दें, इसे ऐसा बनाएं, जिससे शरीर में पैदा होने वाले रसायन और त्रिदोष हमारी वृत्तियों को प्रभावित न करें। सबसे पहले शरीर पर ध्यान दें, मन पर उसके बाद ध्यान दें।

दर्शन के आधार पर भी हम शरीर की मूल्यवत्ता को समझ सकते हैं। महावीर ने कायोत्सर्ग पर बहुत बल दिया— सबसे पहले तुम शरीर को त्यागना या छोड़ना सीखो। जो कायोत्सर्ग करना जानता है उसका वात, पित्त, कफ संतुलित रहेगा। इसका मतलब है— इन तीन दोषों की विषमता से जो होगा, उसका नाम है रोग। तीनों दोष सम हुए, इसका नाम है आरोग्य।

धातुएं सम रहें

बहुत वर्ष पहले की बात है। गुजरात से डा० लालन और गोकुलभाई भट्ट पूज्य गुरुदेव के दर्शन करने आए। उन्होंने कहा— साधु इतने बीमार क्यों होते हैं ? इस पर बहुत विचार विमर्श हुआ। उन्होंने कहा— मैंने एक कारण खोजा है। वह यह है कि साधु गोचरी जाते हैं। घण्टों घूमते हैं। गोचरी से आते हैं तुरंत आहार करने लग जाते हैं। यह बीमारी का खास कारण है। श्रम होता है तो धातु विषम बन जाती है, वात, पित्त, कफ विषम

बन जाते हैं। इस विषम स्थिति में खाना बीमारी को निमंत्रण देना है। खाना कब चाहिए? जब श्रम करने के बाद धातु सम हो जाए, तब भोजन किया जाए। उनकी यह बात तर्कमंगत लगी। जब आगम संपादन का कार्य शुरू हुआ तब देखा, आगमों में इस विषय में बहुत विस्तार से कहा गया है। मुनि भिक्षा लेकर आए तो कुछ क्षण तक विश्राम करे, कायोत्सर्ग करे। भिक्षा से लौट कर आने के बाद मुनि के लिए कायोत्सर्ग करना अनिवार्य है। आयुर्वेद में यही बात कही गई है— शारीरिक श्रम करने के तुरंत बाद भोजन करना बीमारी को बुलावा देना है, कभी-कभी तो इससे मृत्यु भी हो सकती है। लेकिन इस पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। कहा जाता है ध्यान या आसन के कम से कम पचीस-तीस मिनट से पहले कुछ भी न खाएं न पीएं। इसलिए कि धातु सम रहे, विषम न हो।

दिशासूचक यंत्र

भगवान् महावीर ने इसीलिए शरीर पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया। एक प्रकार से उन्होंने दिशा-परिवर्तन कर दिया। दृष्टि बदल जाए तो सृष्टि अपने आप बदल जाएगी। आचार्य भी दिशा-परिवर्तन का कार्य करते हैं इसीलिए आचार्य का एक नाम है— देशिक, दिशा दिखाने वाला, दिशा बदलने वाला समुद्र में चलने वाले जलयान और आकाश में उड़ने वाले वायुयान सब दिशा-संकेत के आधार पर ही चलते हैं। धरती जैसी सड़क कहां बनी है वहां। मात्र दिशा के आधार पर चलते हैं। दिशासूचक यंत्र बराबर उन्हें सही दिशा दिखा रहा है।

महावीर ने एक दिशा पकड़ा दी। यह कहा जाता था— मन ही सब कुछ है। मन ही बांधने वाला है और मन ही छोड़ने वाला है। गीता में अर्जुन ने कृष्ण से कहा—मन को वायु की तरह पकड़ना दुष्कर है। मन को पकड़ना है तो सबसे पहले शरीर को पकड़ें। शरीर को पकड़ लिया तो मन पकड़ में आ जाएगा। शरीर की ही एक क्रिया है श्वास। श्वास को पकड़ लें, मन पकड़ में आ जाएगा। सीधा मन को पकड़ने की कोशिश करोगे तो वह ऐसा भूत है, जो विकराल बन जाएगा, तुम उसे नहीं पकड़ पाओगे, वह तुम्हें

पकड़ लेगा । इसलिए वैज्ञानिक दृष्टि से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया— पहले कायगुप्ति करो, फिर वचन की गुप्ति करो, मन की गुप्ति स्वतः हो जाएगी । खिचड़ी को सीधा बीच से ही खाना शुरू न करें, किनारे से शुरू करें । जो सीधे मन को पकड़ने की बात करते हैं, वे अज्ञानी हैं । पहले शरीर को साधो, फिर वाणी को साधो, मन सध जाएगा ।

प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन

प्रत्येक प्रवृत्ति जीवनी-शक्ति को क्षीण करती है इसलिए प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति आवश्यक है । दीर्घ आयु के जितने प्रयोग हैं, उनमें सर्वाधिक शक्तिशाली प्रयोग है प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन । इसका तात्पर्यार्थ है— अनावश्यक प्रवृत्ति मत करो । प्रयोजन के दीवट पर प्रवृत्ति का दीप जलता है तब अपने आप उसकी सीमा हो जाती है । प्रत्येक प्रवृत्ति की संपन्नता पर निवृत्ति का प्रयोग हो तो प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन हो जाता है । वाणी की प्रवृत्ति के पश्चात् मौन का अभ्यास आवश्यक है और उसके लिए आवश्यक है कंठ का कायोत्सर्ग, स्वर यंत्र की शिथिलता का अभ्यास । मानसिक प्रवृत्ति को संतुलित करने के लिए आवश्यक है एकाग्रता अथवा निर्विकल्प ध्यान का प्रयोग । ध्यान से बहुत लोग परिचित हैं । मौन के विषय में भी जानते हैं । कायोत्सर्ग के विषय में जानना जरूरी है ।

आधारभूत तत्व

कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है शरीर का त्याग व शरीर की प्रवृत्ति का त्याग । इसके आधारभूत तत्व तीन हैं :-

१. शिथिलीकरण
२. जागरूकता
३. ममत्व विसर्जन ।

शिथिलीकरण के लिए सर्वप्रथम शरीर को तनाव देना आवश्यक है । लेटकर दोनों हाथों को सिर की ओर जितना फैला सकें, उतना फैलाएं । फिर पैरों को आगे की ओर, और हाथों को सिर के पीछे की ओर जितना तनाव

दे सकें, दें। फिर शरीर को ढीला छोड़ दें। इस क्रिया को तीन बार दोहराएं। श्वास को मंद अथवा लंबा करें। श्वास लेते समय पेट की मांसपेशियों का फैलाव, और छोड़ते समय उनमें सिकुड़न हो।

अब भावना का प्रयोग करें। हाथ पैर शीशे की भांति भारी हो रहे हैं, यह भावना करें। सुझाव सूचना दें। इस भावना (स्व सम्मोहन) की प्रक्रिया से हाथ और पैरों में भारीपन का अनुभव करें। दो मिनट के पश्चात् हाथ पैर रुई की भांति हल्के हो रहे हैं, इस भावना का प्रयोग करें। दो मिनट की इस लाघव की अनुभूति के पश्चात् ध्यान दाएं पैर के अंगूठे पर केन्द्रित करें। जागरूकता के साथ पूरे अंगूठे की प्रेक्षा करें। फिर तीन बार शिथिलता का सुझाव दें। शिथिलता का अनुभव करें। इस क्रिया का प्रयोग प्रत्येक अवयव पर करें। जैसे प्रत्येक अंगुली, पंजे, पैर का तलबा, ऐड़ी, टखना, पिण्डली, घुटना, साथल, कटि का भाग आदि आदि।

इसी प्रकार बाएं पैर के अंगूठे से कटिभाग तक प्रत्येक अवयव पर चित्त को केन्द्रित करें, शिथिलता का सुझाव दें और उसका अनुभव करें।

पेड़ का पूरा भाग, पेट के भीतरी अवयव—दोनों गुर्दे, बड़ी आंत, छोटी आंत, पक्वाशय, अग्न्याशय, आमाशय, तिल्ली, यकृत, तनुपट।

छाती का पूरा भाग—हृदय, दायां फेफड़ा, बायां फेफड़ा, पंसलियां, पीठ का पूरा भाग—मेरुदण्ड, सुषुम्ना, गर्दन। दाएं हाथ का अंगूठा, अंगुलियां, हथेली, मणिबन्ध से कोहनी और कोहनी से कन्धा। इसी प्रकार बाएं हाथ के प्रत्येक अवयव पर चित्त को केन्द्रित करें।

कंठ, स्वर-यंत्र, टुड्डी, होठ, मसूढ़े, दांत, जिह्वा, तालु, दायां कपोल, बायां कपोल, नाक, दायां कनपटी, कान, बाईं कनपटी, कान, दायां आंख, बायां आंख, ललाट और सिर—प्रत्येक अवयव पर चित्त को केन्द्रित करें। प्रत्येक को शिथिलता का सुझाव दें और उसका अनुभव करें।

शरीर के प्रत्येक अवयव के प्रति जागरूक रहें। शरीर के चारों ओर श्वेत रंग के प्रवाह का अनुभव करें। शरीर के कण-कण में शांति का अनुभव करें।

पैर के अंगूठे से सिर तक चित्त और प्राण की यात्रा करें।

अनुभव करें— पैर से सिर तक चैतन्य पूरी तरह से जागृत हो गया है ।... प्रत्येक अवयव में प्राण का अनुभव करें ।

तीन दीर्घश्वास के साथ कायोत्सर्ग संपन्न करें ! दीर्घ श्वास के साथ प्रत्येक अवयव में सक्रियता का अनुभव करें ।

साधना का प्रवेश द्वार

कायोत्सर्ग का सबसे महत्वपूर्ण अंग है ममत्व का विसर्जन । ममत्व का आदि बिन्दु है शरीर । शरीर के प्रति होने वाला ममत्व पदार्थ के ममत्व को जन्म देता है । इस ममत्व की छाया में चैतन्य गौण और पदार्थ मुख्य बन रहा है । साधना का उद्देश्य है— आत्मा के वीर्य, पराक्रम और पौरुष को जागृत करना, उसकी दिव्य शक्तियों का उपयोग करना । ममत्व की सघनता में ऐसा संभव नहीं होता । साधक के लिए आवश्यक है ममत्व विसर्जन अथवा भेदविज्ञान का अभ्यास । कायोत्सर्ग में शिथिलता की स्थिति निर्मित होती है । उस अवस्था में शरीर और आत्मा के भेद की अनुभूति की जा सकती है । मुझाव और स्वतः-सूचना के प्रयोग भी इस अवस्था में अधिक सफल होते हैं । चंचलता की स्थिति में चेतन मन हमारी भावना को अंतस्तल (अचेतन) तक जाने नहीं देता । कायोत्सर्ग की अवस्था में चेतन मन शिथिल हो जाता है और उसका अवरोध भी समाप्त हो जाता है । यह कहने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि कायोत्सर्ग साधना का प्रवेश द्वार है और मंजिल भी है ।

कायोत्सर्ग का परिणाम

महावीर से पूछा गया— भंते ! कायोत्सर्ग से क्या प्राप्त होता है, भगवान् ने कहा— कायोत्सर्ग के द्वारा अतीतकाल में कृत कर्म और वर्तमान का कर्म—दोनों का विशोधन होता है । कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त का बहुत बड़ा माध्यम रहा है । एक मुनि के लिए यह विधान है— जैसे मुनि बाहर गया, फिर वापस आया तो पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करे । प्रतिक्रमण करना है तो सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करे । पाक्षिक प्रतिक्रमण के दिन सौ श्वासोच्छ्वास और चातुर्मासिक पाक्षिक के दिन पांच सौ श्वासोच्छ्वास का

कायोत्सर्ग करे । संवत्सरी के प्रतिक्रमण में हजार श्वासोच्छ्वास करे । एक मुनि के लिए एक दिन में भी लगभग अठारह-बीस बार कायोत्सर्ग करने का विधान है ।

प्रायश्चित्त के इस अमोघ प्रयोग का हमारी आवश्यक करणीय, वृत्तियों में कितना मूल्य है, कितना महत्त्व है, इसका ठीक मूल्यांकन करें और इतना निश्चय कर लें— प्रतिदिन कम से कम बीस मिनट का कायोत्सर्ग तो करना ही है । अपने आवश्यक कामों की सूची में कायोत्सर्ग को भी सम्मिलित करें । कुछ दिन के अभ्यास के बाद आप स्वयं बहुत बड़ा परिवर्तन अनुभव करेंगे ।

प्रत्याख्यान

पदार्थ जगत् में आदमी लेता ज्यादा जानता है, छोड़ना कम जानता है। वृत्ति ही कुछ ऐसी हो गई कि लोहे की कील भी बेकार हो जाए तो उसे फेंकना नहीं चाहता। कहीं जमा कर रख दी जाती है। छोड़ने की आदत कम है। कुछ लोग ऐसे ही अपने घर को कबाड़खाना बना लेते हैं। इस पदार्थ के जगत् में संग्रह की बात बहुत प्रिय लगती है। जब आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन किया गया— क्या छोड़ना है और क्या लेना है तब उत्तर मिला— लेना कुछ भी नहीं है, सब कुछ छोड़ना ही है। जो कुछ लेना या पाना है, वह अपने भीतर ही है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य आनन्द, शक्ति— जितनी चाहिए, सब भीतर है। बाहर कोई ऐसी अच्छी वस्तु नहीं, जिसे लें। अच्छी चीज हमारे भीतर पहले से ही विद्यमान है।

संदर्भ स्वरूप का

यह अध्यात्म का अनुभूत सच है— उपादेय कुछ भी नहीं है। हेय ही हेय है। जो विजातीय है, उसे छोड़ना है। स्वास्थ्य का सन्दर्भ लें। सभी स्वस्थ रहना चाहते हैं। किन्तु कुछ विजातीय तत्व इकट्ठे हुए और बीमारियां पैदा कर दीं। ऐसी स्थिति में क्या करना है? यही है कि जो बाहर के विजातीय तत्व इकट्ठे हुए हैं, उन तत्वों को निकाल देना है। स्वास्थ्य तो पहले से ही है। जो विकृतियां बाहर से आई हैं, उन्हें निकाल दें, उनका रेचन कर दें, स्वास्थ्य मिल जाएगा। स्वास्थ्य कहीं से लाया नहीं जाता। न कोई दवा स्वास्थ्य देती है, न कोई उपचार स्वास्थ्य देता है। ठीक यही बात अध्यात्म जगत् में कही गई— तुम्हें बाहर से कुछ भी नहीं लेना है। परिपूर्ण हो तुम। सब

कुछ तुम्हारे पास है। किन्तु कुछ अनावश्यक चीजें बाहर से आकर इकट्ठी हो गई हैं। उन्हें निकाल दो, तुम्हारा पूर्ण और वास्तविक स्वरूप स्वतः प्रकट हो जाएगा। हमारा स्वरूप पैदा नहीं होता, प्रकट होता है। एक है पैदा होना और एक है प्रकट होना। जो स्वरूप दबा है, वह प्रकट हो जाएगा।

चिकित्सा की पद्धति

प्रत्याख्यान एक चिकित्सा की पद्धति है। प्राकृतिक चिकित्सा, होम्योपैथी, एलोपैथी, आयुर्वेदिक, ईरानी आदि चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ हैं। प्रत्याख्यान भी चिकित्सा की एक पद्धति है। आक्रमणकारी रोगों को मिटाने का सबसे शक्तिशाली साधन है प्रत्याख्यान। छोड़ना सीखो, त्याग करना सीखो। त्याग करते जाओ, बीमारियाँ दूर होंगी, स्वास्थ्य का अनुभव होगा। यह आवश्यक है कि प्रतिदिन कुछ न कुछ प्रत्याख्यान किया जाए। स्वल्पकाल के लिए करो या दीर्घकाल के लिए, किन्तु कुछ न कुछ प्रत्याख्यान करते रहो। जो अनावश्यक है, उसे छोड़ो। यह एक बहुत बड़ा प्रयोग है, अभ्यास है।

अन्न का संकट . एक प्रयोग

श्री लालबहादुर शास्त्री के प्रधानमंत्रित्वकाल में अन्न का संकट उत्पन्न हुआ। इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने एक एकाशन का प्रयोग प्रस्तुत किया— सप्ताह में एक दिन एकाशन करो, एक वक्त भोजन मत करो। कल्पना करें— एक समय सत्तर करोड़ आदमी एक वक्त का खाना न खाएँ तो कितने अन्न की बचत होगी। यदि एकान्तर (एक दिन का उपवास और एक दिन का भोजन) की बात कह दी जाती तो फिर शायद यह समस्या ही जड़मूल से खत्म हो जाती। यह प्रयोग राष्ट्र की एक बहुत बड़ी समस्या के निवारणार्थ दिया गया था। हमें इसे अपनी व्यक्तिगत समस्या के समाधान के लिए करना चाहिए।

प्रत्याख्यान के प्रकार

आहार-संयम साधना का प्रथम बिन्दु है। इससे अनेक लाभ होते हैं।

किन्तु हम आहार-संयम पर ही न अटकें, इसे आहार-प्रत्याख्यान के स्तर तक लाएं। उससे भी आगे बढ़ें— आज मैं क्रोध नहीं करूंगा, प्रत्याख्यान कर लिया। आज मैं गाली नहीं दूंगा, प्रत्याख्यान कर लिया। आज मैं सहिष्णुता का प्रयोग करूंगा, असहिष्णुता का प्रत्याख्यान कर लिया। किसी के प्रति क्रूर व्यवहार नहीं करूंगा, अभय रहने का प्रयास करूंगा। इस तरह के भावात्मक प्रत्याख्यान के प्रयोग प्रतिदिन हम करते चले जाएं तो अभ्यास करते-करते ऐसी स्थिति में पहुंच जाएंगे कि भाव की दृष्टि से बिल्कुल निर्मल और पवित्र बन जाएंगे।

जीतता है त्याग

प्रतिदिन प्रत्याख्यान करना एक बहुत बड़ी शक्ति को अर्जित करना है। छोड़ने की बात में ही शक्ति निहित है। उत्तराध्ययन सूत्र से जुड़ा हुआ प्रसिद्ध आख्यान है दशार्णभद्र का। भगवान् महावीर का समवसरण। दशार्णभद्र ने सोचा— महावीर पधारे हैं, मैं वंदना करने जाऊँ। वह राजा था इसलिए अहं का जाग जाना स्वाभाविक था। उसने सोचा— मैं इस रूप में जाऊँ, जैसा आज तक कोई न गया हो। वह पूरी सज्जा और तैयारी के साथ सेना लेकर भगवान् महावीर के पास गया। इन्द्र भी आ रहा था उसी समय भगवान् की वंदना करने के लिए। उसने दशार्णभद्र के इस अहं को पहचाना। कुछ सोचकर इन्द्र ने एक हाथी का निर्माण किया और हाथी पर ही भव्य तालाब, उसमें खिले हुए कमल और कमल की प्रत्येक पंखुड़ी पर नाट्य करती अप्सराएं। सब कुछ इतने चमत्कारिक ढंग से किया कि दशार्णभद्र उस दृश्य को देखकर चकित रह गया। उस वैभव के सामने उसका सारा तामझाम फीका-सा दिखाई देने लगा। उसका अहंकार विगलित हो गया। किन्तु तत्काल एक निर्णय लिया। भगवान् के पास आया, विनम्र वंदना कर निवेदन किया— भगवान् ! मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूँ। आप मुझे दीक्षा प्रदान करें। लोग आश्चर्य में पड़ गए। न महारानी या मंत्री से सलाह ली, न किसी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया, न राज्य की भावी व्यवस्था की, फिर यह साधु बनने का अकस्मात् निर्णय क्यों? भगवान् भी विचित्र थे। उन्होंने तत्काल दशार्णभद्र को दीक्षित कर लिया। साधु बनने

ही इन्द्र भी वहां पहुंचा। भगवान् के चरणों में नत हुआ, मुनि दशार्णभद्र से बोला— राजन् ! पदार्थ का प्रदर्शन मेरी शक्ति के आगे टिके नहीं सकता, किन्तु आपकी इस त्यागवृत्ति के आगे मैं नतमस्तक हूं। आप जीते और मैं हारा।

जिसमें निष्पृहता और त्याग की वृत्ति जाग जाती है, उसे दुनिया में झुकाने वाला कौन है ? झुकाया उसी को जा सकता है, जिसके भीतर चाह है।

समस्या आदत की

हम आदतों का संग्रह करते हैं, विचारों का संग्रह करते हैं और प्रकृति का भी संग्रह करते हैं। कितनी आदतें हमने बना ली हैं। मनोविज्ञान का एक शब्द है— अर्जित आदत। बच्चा जन्मता है तो उसके बहुत ज्यादा आदतें नहीं होतीं। धीरे-धीरे वह आदतें अर्जित करने लग जाता है। कहां से आती हैं ये आदतें ? वह अपने आसपास के परिवेश से सीखता है। उसे कोई चीज देता है तो वह झट से ले लेता है किन्तु वापस मांगते ही मुट्ठी बन्द कर लेता है। कभी-कभी तो वह माता-पिता को भी देने से इन्कार कर देता है। बच्चे की बात छोड़ भी दें। आदमी बड़ा होकर लाखों-करोड़ों का अर्जन करता है। आवश्यकता है दो समय रोटी की, कुछेक वस्त्रों की। किन्तु करोड़ों के संग्रह के लिए दिन-रात एक करता है। किसलिए ? क्या नाम के लिए ? नाम किसका कहां तक चला है ? वला भी है तो त्यागियों का। भोगी का नाम इतिहास की किस पुस्तक में दर्ज होता है ? आज नाम चल रहा है राम का, कृष्ण का, मोहम्मद का, जीसस का, महावीर का, बुद्ध का, आचार्य भिक्षु का, नानक का और इस युग में गांधी का। युगों-युगों से लोग इन्हें आदर के साथ स्मरण करते आ रहे हैं। भोग कभी अमर नहीं बनता। अमर कोई चीज होती है तो वह त्याग और तप है। एक व्यामोह है अर्जन का इसलिए व्यक्ति विसर्जन की बात भूल जाता है।

निर्विवाद परिभाषा

महावीर ने त्याग और संयम की जो शिक्षा दी, वह अपूर्व है। आचार्य

भिक्षु ने धर्म की संपूर्ण परिभाषा ही त्याग पर आधृत कर दी। हिन्दुस्तान में अनेक धर्माचार्य और विचारक हुए हैं। उन्होंने अपने-अपने चिन्तन के अनुसार धर्म की परिभाषा दी। किन्तु आचार्य भिक्षु ने धर्म की जो परिभाषा दी है, वह इतनी सरल है कि उसमें किसी तरह की दार्शनिक उलझन है ही नहीं। धर्म की वह निर्विवाद परिभाषा है— त्याग धर्म, भोग अधर्म। इस परिभाषा से किसे आपत्ति हो सकती है ?

समस्या है संग्रह की वृत्ति

आवश्यकता एक बात है, किन्तु आवश्यकता से कई गुना अधिक संग्रह करना बिल्कुल दूसरी बात है। जरूरत है दो धोती और दो कुर्ते की, किन्तु एक दर्जन से कम में काम ही नहीं चलता। साड़ियों का तो कहना ही क्या ? पच्चीस-तीस साड़ियां तो आजकी महिलाओं के लिए सामान्य-सी बात है। कुछ वर्ष पूर्व एक छोटे से साम्यवादी देश में क्रान्ति हो गई। शासक को अपदस्थ कर दिया गया। उसकी पत्नी के प्रसाधनकक्ष से बेसुमार विलासिता की वस्तुएं बरामद हुईं। उनमें सिर्फ पैरों की जूतियों की संख्या ही इतनी थी कि वह रोज एक नई जोड़ी पहनती है तो भी साल भर पहनने के बाद कुछ बच जातीं। उस शासक ने इतना इकट्ठा कर रखा था, जिसके सामने मुगलों की कई पीढ़ियों का वैभव भी तुच्छ था। यहां तक कि उसके जूतों में भी हीरे जड़े हुए थे। यह एक साम्यवादी देश के शासक की स्थिति है।

मनुष्य का ऐसा विचित्र स्वभाव या वृत्ति है संग्रह करने की। इस व्यामोह की स्थिति में अध्यात्म चेतना को जगाने के लिए छह आवश्यकताओं का प्रतिपादन किया गया। उनमें अन्तिम आवश्यकता है प्रत्याख्यान। इसका ठीक मूल्य आंका जाए तो व्यक्तिगत समस्या का सामाधान होगा, सामाजिक और राष्ट्रीय समस्या का समाधान भी हो पाएगा।

नव तत्त्व

वह ज्ञाता होना चाहता है

आईस्टीन से पूछा गया—आप क्या होना चाहते हैं ? आईस्टीन ने कहा—मैंने वर्तमान जीवन में ज्ञेय को जानने का प्रयत्न किया है। अगले जन्म में मैं संत होना चाहता हूँ। वह इसलिए कि मैं ज्ञाता को, जानने वाले को जान सकूँ। आज तक जो जानने योग्य है, उसे जानता रहा हूँ किन्तु अब जो ज्ञाता है, जानने वाला है, उसे जानना चाहता हूँ।

ज्ञाता को जानने का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। कांट ने कहा—ज्ञाता को जाना नहीं जा सकता। ज्ञाता ज्ञेय नहीं बनता। अगर ज्ञाता ज्ञेय बने तो वह पदार्थ बन जाएगा। इस आधार पर उन्होंने इस बात का खंडन कर दिया। एक ओर प्रश्न है—मैं ज्ञाता को जानना चाहता हूँ, दूसरी ओर प्रश्न है—ज्ञाता अज्ञेय है, वह ज्ञेय नहीं बनता। इन दोनों प्रश्नों के संदर्भ में हमें अपना निर्णय करना है। जहां परस्पर दो विरोधी बातें प्रस्तुत होती हैं वहां निर्णय करने के लिए अनेकान्त का सहारा लेना पड़ता है। विसंगति और विरोधाभास की स्थिति में अनेकान्त के द्वारा समाधान का मार्ग खोजा जा सकता है।

काण्ट का अभिमत

ज्ञाता ज्ञेय नहीं बनता, इस आशंका के पीछे कुछ हेतु हैं। एक हेतु है—ज्ञाता अमूर्त है, अभौतिक है, निराकार है। ज्ञेय बनता है पदार्थ। वह द्रव्य है। ज्ञाता—आत्मा पदार्थ नहीं बन सकती। डेकार्टे ने आत्मा को द्रव्य माना। काण्ट ने इसका खंडन किया। कांट ने द्रव्य की एक निश्चित परिभाषा बना ली और उसके आधार पर आत्मा के द्रव्यत्व का खंडन कर दिया। द्रव्य

वह ज्ञाता होना चाहता है

१८५

वह ज्ञाता होना चाहता है

आईस्टीन से पूछा गया—आप क्या होना चाहते हैं ? आईस्टीन ने कहा—मैंने वर्तमान जीवन में ज्ञेय को जानने का प्रयत्न किया है । अगले जन्म में मैं संत होना चाहता हूँ । वह इसलिए कि मैं ज्ञाता को, जानने वाले को जान सकूँ । आज तक जो जानने योग्य है, उसे जानता रहा हूँ किन्तु अब जो ज्ञाता है, जानने वाला है, उसे जानना चाहता हूँ ।

ज्ञाता को जानने का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है । कांट ने कहा—ज्ञाता को जाना नहीं जा सकता । ज्ञाता ज्ञेय नहीं बनता । अगर ज्ञाता ज्ञेय बने तो वह पदार्थ बन जाएगा । इस आधार पर उन्होंने इस बात का खंडन कर दिया । एक ओर प्रश्न है—मैं ज्ञाता को जानना चाहता हूँ, दूसरी ओर प्रश्न है—ज्ञाता अज्ञेय है, वह ज्ञेय नहीं बनता । इन दोनों प्रश्नों के संबन्ध में हमें अपना निर्णय करना है । जहां परस्पर दो विरोधी बातें प्रस्तुत होती हैं वहां निर्णय करने के लिए अनेकान्त का सहारा लेना पड़ता है । विसंगति और विरोधाभास की स्थिति में अनेकान्त के द्वारा समाधान का मार्ग खोजा जा सकता है ।

काण्ट का अभिमत

ज्ञाता ज्ञेय नहीं बनता, इस आशंका के पीछे कुछ हेतु हैं । एक हेतु है—ज्ञाता अमूर्त है, अभौतिक है, निराकार है । ज्ञेय बनता है पदार्थ । वह द्रव्य है । ज्ञाता—आत्मा पदार्थ नहीं बन सकती । डेकार्टे ने आत्मा को द्रव्य माना । काण्ट ने इसका खंडन किया । कांट ने द्रव्य की एक निश्चित परिभाषा बना ली और उसके आधार पर आत्मा के द्रव्यत्व का खंडन कर दिया । द्रव्य

वह ज्ञाता होना चाहता है

की परिभाषा है—जिसमें भार है, जिसमें द्रव्यमान है, जिसका आयतन है और जो ज्ञेय होता है, वह द्रव्य है। आत्मा इसलिए ज्ञेय नहीं है कि उसमें भार नहीं है और उसका कोई आयतन भी नहीं है।

हम इस पर विमर्श करें। वस्तुतः द्रव्य की भाषा स्थूल पुद्गल के आधार पर ही गढ़ी गई है। आज भारहीन परमाणु भी खोज लिए गए हैं। उनमें भार नहीं है फिर भी वे द्रव्य हैं। स्थान को वही रोकता है, जो स्थूल है। सूक्ष्म द्रव्य स्थान को रोकता नहीं है। अनेकांत के अनुसार ज्ञाता भी द्रव्य है और भारमुक्त के भी द्रव्य होने में कोई बाधा नहीं है। भारहीन भी द्रव्य है और भारयुक्त भी द्रव्य है। ज्ञेय तो सब होता ही है। ज्ञाता को ज्ञेय बनने में भी कोई कठिनाई नहीं है और उसके द्रव्य बनने में भी कोई कठिनाई नहीं है।

सार्थक स्वप्न

इस बिन्दु पर आईस्टीन का यह स्वप्न सार्थक होता है— मैं ज्ञाता को जानना चाहता हूं। यह स्वप्न पूरे अध्यात्म जगत् का स्वप्न रहा है। जिसके मन में ज्ञाता को जानने की अभीप्सा न हो, वह पूर्ण आध्यात्मिक नहीं बन सकता। ध्यान किसलिए है? यदि ध्यान मात्र मानसिक शान्ति के लिए ही है तो उसका अर्थ बहुत छोटा हो जाएगा। शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों की समाप्ति ध्यान का प्रासंगिक परिणाम है। ध्यान का मूल उद्देश्य है—ज्ञाता को जानना। जब तक मन में यह ललक नहीं जागेगी, ध्यान आगे नहीं बढ़ पाएगा। वह मन के स्तर पर ही चलता करेगा। जैसे दुनियावी आदमी मन के खेल खेलता है वैसे ही ध्यान करने वाला भी मन के खेल खेल लेता है। हमें मन से ऊपर उठकर चेतना के स्तर तक जाना है, ज्ञाता का संवेदन या अनुभव करना है।

स्वप्नकाशी है ज्ञाता

ध्यान का मूल उद्देश्य है—ज्ञाता का साक्षात्कार, जानने वाले को जानना। प्रश्न हो सकता है—ज्ञाता स्वयं जानता है, फिर उसे क्यों जाना जाए। वही

दूसरों को जान सकता है, जो स्वयं को जानता है। जो स्वयं को नहीं जानता, वह दूसरों को भी नहीं जान सकता। प्रमाणशास्त्र का प्रसिद्ध सूत्र है--वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है, जो अपना निश्चय भी करता है, दूसरों का निश्चय भी करता है। जो स्वयं प्रकाशी नहीं है, वह दूसरों को प्रकाशित नहीं कर सकता। जितने भी प्रकाशशील द्रव्य हैं, वे स्वयं प्रकाशी हैं इसलिए दूसरों को प्रकाशित कर पाते हैं। यदि आत्मा-ज्ञाता स्वप्रकाशी नहीं है तो वह दूसरों को प्रकाशित नहीं कर सकता, इसलिए ज्ञाता स्व को जानता ही है। कोई भी ऐसा नहीं है, जो अपने आपको नहीं जानता।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा-जीव निरन्तर जानता है इसलिए वह ज्ञायक है, ज्ञानी है और ज्ञान ज्ञायक से अव्यतिरिक्त है--

जम्हा जाणदि णिच्चं, तम्हा जीवो दु जाणदो णाणी ।
 णाणं च जाणयादो, अब्बदिरिच्चं मुणेयव्वं ॥

व्यक्ति को प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना चाहिए-जो जानने वाला है वह मैं हूं, शेष सारे भाव मुझ से पर हैं।

पण्णाए धित्तव्वो जो दट्ठो सो अहं तु णिच्छयदो ।
 अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे ति णादव्वा ॥
 पण्णाए धित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
 अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे ति णादव्वा ॥

ध्यान क्यों

ज्ञाता को जानने का अर्थ है, उसे सर्वत्र और सर्वात्मना जानें, निरावरण रूप में जानें। ध्यान इसीलिए किया जाता है कि आवरण समाप्त हो जाए, हम ज्ञाता को सर्वात्मना जान लें। ध्यान का अर्थ कोरी एकाग्रता ही नहीं है। उसका अर्थ है निर्मलता युक्त एकाग्रता। निर्मलता के अभाव में जो एकाग्रता सधती है, वह ध्यान तो है किन्तु आर्त्त-रौद्र ध्यान है। निर्मलता है वीतरागता। राग-द्वेष का न होना ही ध्यान है। यह ज्ञाता को जानने का सबसे बड़ा साधन है। ज्ञाता को वही व्यक्ति जान सकता है, जो वीतराग

वह ज्ञाता होना चाहता है

है। जब तक वीतरागता नहीं आएगी तब तक आवरण बना रहेगा। जब तक आवरण रहेगा तब तक विघ्न और बाधाएं प्रस्तुत होती रहेंगी, आत्म-साक्षात्कार संभव नहीं बन पाएगा। ऐसी स्थिति में किसी माध्यम से जानना होगा। यदि माध्यम कमजोर होता है तो वह भ्रम भी पैदा कर देता है।

महत्त्वपूर्ण कथन

आत्म-साक्षात्कार का होना सहज नहीं है। राग-द्वेष की लहरें निरंतर उठती रहती हैं। उन लहरों में जिसका मन चंचल नहीं है, वही व्यक्ति आत्मा को देख सकता है। इसके बिना इसका दर्शन संभव नहीं बनता। कोरा बौद्धिक ज्ञान ज्ञाता को जानने में हमारी सहायता नहीं कर सकता। उपनिषद्कारों का यह कथन महत्त्वपूर्ण है— आत्मा को बलहीन आदमी कभी नहीं पा सकता, केवल बुद्धि से आत्मा को नहीं पाया जा सकता। आत्मा अमूर्त है। उसे जानने में इन्द्रियां, मन और बुद्धि हमारा सहयोग नहीं करते। ध्यान में सबसे पहले इन्द्रियों का प्रत्याहार किया जाता है। हम ध्यान में आंखें बंद करते हैं। इसका अर्थ यही है—भीतर में देखना है तो आंख हमारा सहयोग नहीं करेगी। भीतर को देखना है तो आंखें मूंदनी होंगी।

अनिवार्य है इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता

हमारे दो जगत् हैं—बाहरी जगत् और भीतरी जगत्। हम बाहर के जगत् से सर्वथा मुक्ति नहीं पा सकते, क्योंकि हमारा जीवन शरीर से जुड़ा हुआ है। किन्तु हम बाहर के लिए ही पूरी आंख खुली न रखें, हमें भीतरी जगत् को भी देखना है। भीतर को जानने के लिए इन्द्रियों का प्रत्याहार जरूरी है, इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता अनिवार्य है। जो व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, वह न ध्यान कर सकता है न ज्ञाता को जान सकता है। वही व्यक्ति ध्यान कर सकता है, जिसने पांचों इन्द्रियों का प्रत्याहार करना सीखा है। जैन दर्शन का शब्द है—प्रतिसंलीनता और पंतजलि का शब्द है—प्रत्याहार। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—जो इन्द्रियां बाहर की ओर जा रही हैं, उन्हें भीतर खींच लेना। यही प्रतिसंलीनता व्यक्ति को अपने आपमें लीन कर देती है। जब इन्द्रियों

की प्रतिसंलीनता होती है, राग और द्वेष की तरंगें अपने आप शान्त हो जाती हैं। उस अवस्था में एक नई चेतना का जागरण होता है, वह है अतीन्द्रिय चेतना, निर्मल चेतना या वीतराग चेतना। इस वीतराग चेतना की उपलब्धि के द्वारा ही ज्ञाता को जाना जा सकता है।

आश्चर्य है आस्तिक होना

आईस्टीन के इस कथन, 'मैं संत होना चाहता हूँ', का अर्थ है—मैं वीतरागता की साधना करने वाला होना चाहता हूँ। जो संत नहीं होता, वह ज्ञेय को जानता है, ज्ञाता को नहीं जानता। आज ज्ञेय को जानते-जानते आदमी कहीं भी रुक नहीं पा रहा है। अपने आप में ठहरने के लिए वीतरागता की साधना करना जरूरी है।

ध्यान का मुख्य उद्देश्य है—ज्ञाता को जानने वाली चेतना का विकास। जितने वैज्ञानिक उपकरण हैं, वे स्थूल को जानते हैं और एक सीमा तक सूक्ष्म को भी जानते हैं। किन्तु परम सूक्ष्म को जानने वाले उपकरण निर्मित नहीं हो पाए हैं। उस परम सूक्ष्म या अमूर्त तत्त्व को केवल वीतराग चेतना के द्वारा ही जाना जा सकता है। इसलिए अनेक महर्षियों ने वीतरागी चेतना की साधना की, उसके द्वारा आत्मा का साक्षात्कार किया। उन्होंने कहा—ज्ञाता है, आत्मा है। आत्मा का निरूपण करना बहुत कठिन है। इन्द्रियजगत् में जीने वाला आत्मा की बात करे, यह कैसे संभव हो सकता है? इसीलिए नास्तिकता को बल मिला। मैं तो यह मानता हूँ— नास्तिक होना आश्चर्य नहीं है, आश्चर्य है आस्तिक होना।

आत्मा : साकार या अनाकार

जिन लोगों ने वीतरागी चेतना को स्वीकार किया, समझा, उन्होंने आत्मा को स्वीकार किया, उसे देखा, उसका साक्षात्कार किया। निश्चय नय की भाषा में कहें तो आत्मा है। व्यवहार नय की भाषा में कहें तो जीव है। आत्मा का मतलब है— शुद्ध आध्यात्मिक सत्ता और जीव का मतलब है—प्राण। अनेकान्त के अनुसार आत्मा और जीव—दोनों मान्य हैं। वेदान्त में आत्मा

वह ज्ञाता होना चाहता है

मान्य नहीं है, जीव शुद्ध रूप में मान्य नहीं है। जैन दर्शन में आत्मा और जीव—दोनों मान्य हैं। जीवनी शक्ति जीव है। जीव प्राण के द्वारा अपना जीवन चलाते हैं। वह जीवन तत्त्व है। वह शरीर के साथ जुड़ा हुआ है इसलिए साकार है। पर अपने शुद्ध एवं आंतरिक रूप में वह अनाकार है। संसार में जितने जीव हैं, उनकी आत्मा अनाकार नहीं है, साकार है। साकार का साकार के साथ ही संबंध स्थापित हो सकता है। अनाकार का साकार के साथ कभी संबंध स्थापित नहीं हो सकता। आत्मा साकार बना हुआ है इसीलिए शरीर के साथ हमारा संबंध चलता है। यदि हम आत्मा को सर्वथा अनाकार या अभौतिक मान लें तो यह संबंध स्थापित नहीं हो सकता।

डेकार्टे का मंतव्य

डेकार्टे ने कहा—आत्मा का निवास पिनियल ग्लैंड में है। आत्मा वहां रहती है और वहीं से पूरे शरीर को प्रकाशित करती है। डेकार्टे के इस मंतव्य पर कांट तथा अनेक दार्शनिकों ने आपत्ति की—साकार शरीर में अनाकार आत्मा कैसे रह सकती है? डेकार्टे ने आत्मा को अभौतिक—निराकार मान लिया किन्तु उसके साथ अनेकान्त का सहारा नहीं लिया इसीलिए यह आपत्ति प्रस्तुत हुई। यदि अनेकान्त का सहारा लिया जाता तो यह उलझन पैदा नहीं होती।

जैन दर्शन में नौ तत्व माने गए हैं। उनमें पहले दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव। जहां ज्ञाता है वहां अज्ञाता का होना जरूरी है। अगर अज्ञाता नहीं है तो ज्ञाता क्या होगा? जीव है तो अजीव का होना जरूरी है। प्रतिपक्ष निश्चित होगा। मूर्त्त है तो अमूर्त्त भी होगा। अपने शुद्ध अस्तित्व की दृष्टि से जीव अमूर्त्त है। जीवधारी होने के नाते वह मूर्त्त भी है।

संत बनना होगा

जैन दर्शन के अनुसार जीव पूरे शरीर में रहता है। आत्मा का द्रव्यमान है, आत्मा में भार नहीं है। अमूर्त्त में भार नहीं होता। निष्कर्ष की भाषा

होगी—वह ज्ञाता, जो अमूर्त भी है, मूर्त भी है, आत्मा भी है, जीव भी है, जो भारहीन भी है, द्रव्यमान वाला भी है और चैतन्यमय है, उस ज्ञाता को जानना है। यदि हम उसे जानने के लिए बौद्धिक व्यायाम या तर्क का सहारा लेंगे तो अधिक दूर तक नहीं पहुंच पाएंगे। यदि हमें ज्ञाता को जानना है तो संत बनना होगा, वीतराग चेतना का विकास करना होगा। उसका सबसे बड़ा माध्यम है—ध्यान, इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता। यदि यह तथ्य समझ में आ जाए तो ज्ञाता को जानने का संकल्प पूरा हो सकेगा, उसे जानने का रास्ता भी आसान बन जाएगा।

यह दुःख कहां से आ रहा है ?

जीव और अजव—ये दो तत्त्व हैं। जीव की भी स्वतंत्र सत्ता है और अजीव की भी स्वतंत्र सत्ता है। प्रश्न उठा—दोनों में संबंध कैसे है ? भारतीय और पाश्चात्य—दोनों दर्शनों में यह प्रश्न बहुत उलझा हुआ रहा है। एक चेतन है और एक अचेतन। एक अमूर्त है और एक मूर्त। दोनों में संबंध कैसे स्थापित हो सकता है ? यह स्वीकार किया गया—इन दोनों में अंतः क्रिया है, दोनों एक दूसरे से प्रभावित हो रहे हैं। पर यह संबंध कौन स्थापित कर रहा है और यह संबंध कैसे स्थापित हो रहा है ? हम इस पर विचार करें। यह स्वीकार करना चाहिए—अमूर्त और मूर्त में कभी संबंध नहीं हो सकता। चेतन और अचेतन—दोनों में स्पर्श हो सकता है पर वे एक-दूसरे को प्रभावित करें, यह कभी संभव नहीं है। संबंध तभी हो सकता है, जब एक-दूसरे में गहरा तादात्म्य हो, अन्यथा संबंध का होना कभी संभव नहीं है।

समस्या का हेतु

तर्कशास्त्र में कहा जाता है— वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नः— मूसलाधार वर्षा बरसे या गहरी धूप पड़े, आकाश पर क्या उनका असर होता है ? वर्षा से आकाश ठण्डा नहीं होता और धूप से आकाश गरमा नहीं जाता। धूप और वर्षा से आकाश में कोई अंतर नहीं आएगा, वह वैसा का वैसा बना रहेगा। अमूर्त मूर्त से कभी प्रभावित नहीं हो सकता। प्रश्न है—यह समस्या क्यों पैदा हुई ? जब चेतन सत्ता—आत्मा को सर्वथा अमूर्त मान लिया गया, पुद्गल को मूर्त मान लिया गया, दोनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई, तब यह समस्या पैदा हुई। जैन दर्शन में जीव को कभी सर्वथा अमूर्त नहीं माना

गया, पर एक अवस्था आती है, जीव अमूर्त बन जाता है। वह सर्वथा अमूर्त नहीं है। प्रत्येक देहधारी प्राणी एक अवस्था से मूर्त है, शरीर से जुड़ा हुआ है।

अनादिकालीन संबंध

प्रश्न हुआ—जीव शरीर के साथ कब से जुड़ा हुआ है? उत्तर दिया गया—जब से जीव है तब से वह शरीर के साथ है। ऐसा कोई काल नहीं रहा, जिसमें जीव रहा किन्तु शरीर नहीं रहा। जीव कब से शरीरधारी है, उसका कोई पता नहीं है। कहा जा सकता है—जीव और शरीर का यह संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है। यदि पुद्गल के साथ आत्मा का संबंध माना जाए तो मुक्त आत्मा के साथ भी पुद्गल का संबंध मानना होगा। जो आत्मा शरीर से मुक्त है, उसके साथ भी संबंध मान्य करना होगा किन्तु उनके बीच संबंध नहीं है। पुद्गल पुद्गल है, आत्मा आत्मा है। पूरे लोक में जीव और पुद्गल व्याप्त हैं, किन्तु दोनों में कोई संबंध नहीं है। न पुद्गल से मुक्त-आत्मा प्रभावित होती है और न मुक्त-आत्मा से पुद्गल। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे—जीव और पुद्गल में संबंध स्थापित नहीं किया गया। किन्तु वह प्राकृतिक रूप से, नैसर्गिक रूप से चला आ रहा है। जो प्राकृतिक होता है, उसमें तर्क नहीं होता।

स्रोत है योग

एक प्रश्न है—जीव और पुद्गल के बीच जो संबंध है, वह चल कैसे रहा है? उसका एक स्रोत है। जो शरीर आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है, वह निरन्तर अपनी सुरक्षा कर रहा है। उसने ऐसे स्रोत बना लिए हैं, जिनसे निरन्तर रस प्राप्त हो रहा है। उसे पोषण देने वाला, चिजीवी बनाने वाला जो तत्त्व है, उसका नाम है—आश्रय। वह निरन्तर पुद्गलों को खींच रहा है, अपने आपको पुष्ट बना रहा है, कभी क्षीण नहीं होने दे रहा है। शरीर ने अपने साथ दो तत्त्व और प्राप्त कर लिए हैं—वाणी और मन। इन तीनों का योग बन गया, जो निरन्तर उसका पोषण कर रहे हैं। इसे पारिभाषिक

यह दुःख कहां से आ रहा है ?

१९३

शब्दावला म कहा गया—**कायवाइमनःव्यापारो यागः**—काया, वाणी और मन का जो व्यापार है, जो प्रवृत्ति है, उसका नाम है—योग ।

महर्षि पतंजलि ने भी योग शब्द का प्रयोग किया है । जैन दर्शन में भी वह प्रयुक्त हुआ है । इसके अर्थ में सादृश्यता भी है, असादृश्यता भी है । योग का एक अर्थ है— जुड़ना और जोड़ना । योग का दूसरा अर्थ है—समाधि या एकाग्रता ।

प्रश्न है—हमारा संबंध कैसे बना हुआ है ? हम कैसे जुड़े हुए हैं ? काया, वाणी और मन—इन तीनों की प्रवृत्ति चल रही है । ये तीनों पुद्गलों को बाहर से खींचते हैं और जीव को पुद्गलों के साथ जोड़ते हैं । योग आश्रव है । दीपक जल रहा है, बाती निरन्तर तैल को खींच रही है । हमारी प्राणधारा भी पुद्गलों के आधार पर निरन्तर चलती जा रही है । इसी आधार पर पुद्गलों की वर्गणाएं बना दी गईं । वर्गणाएं आठ हैं—पांच शरीर की, एक भाषा की, एक मन की और एक श्वासोच्छ्वास की ।

जीव और पुद्गल के संबंध को टिकाने वाला बिन्दु हमें ज्ञात है, वह है आश्रव योग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति ।

प्रश्न दुःख की रचना का

एक प्रश्न है—दुःख कहां से आ रहा है ? जीव का लक्षण है—उपयोग, ज्ञान और चेतना । जीव चैतन्यमय है । चैतन्य का स्वभाव दुःख नहीं है । उसका स्वभाव है—शक्ति, दर्शन और आनंद । जब आनंद चैतन्य का स्वभाव है तब दुःख कहां से आया ? एक समाधान दिया गया— ईश्वर ने दुःख बना दिया ताकि व्यक्ति प्रमादःन करे, भूलें न करे किन्तु जब तक हम दुःख और अशुभ की जैविकीय स्तर पर चर्चा नहीं करेंगे तब तक दुःख की बात समझ में नहीं आएगी । दुःख की रचना न ईश्वर ने की है और न ही जागरूक रहने के लिए दुःख की रचना की गई है । दुःख की रचना संबंध के साथ जुड़ी हुई है । जीव और पुद्गल के संबंध की परिणति है—सुख और दुःख । योग के द्वारा जो लिया जा रहा है, वह अच्छा भी है, बुरा भी है, शुभ भी है, अशुभ भी है । सुख और दुःख, पुण्य और पाप—दोनों हमारी प्रवृत्ति के

द्वारा आ रहे हैं। जैसी हमारी प्रकृति होती है, वैसा ही उसका परिणाम आता है। हमारी प्रवृत्ति शुभ होती है तो आश्रव पुण्य का होता है और हमारी प्रवृत्ति अशुभ होती है तो आश्रव पाप का होता है।

क्या आत्मा शुद्ध है ?

प्रश्न हो सकता है—जब ज्ञाता—आत्मा चैतन्यमय है तो वह अशुभ की सृष्टि क्यों करेगा ? जो प्रश्न ईश्वर के संदर्भ में उपस्थित होता है, वही प्रश्न आत्मा के संदर्भ में प्रस्तुत हो जाता है। हम मुड़कर देखें। आत्मा शुद्ध है, यह हमारी कल्पना है। वस्तुतः वह शुद्ध नहीं है। जब तक आत्मा शरीर के साथ जुड़ी हुई है तब तक उसे शुद्ध कैसे माना जाए ? जब तक आत्मा राग-द्वेष की प्रवृत्ति के साथ जुड़ी हुई है तब तक वह शुद्ध कैसे हो सकती है ? शुद्ध आत्मा की बात मुक्त अवस्था में की जा सकती है। जहां पुद्गल से कुछ भी लेना-देना नहीं है, वहां शुद्ध आत्मा का प्रश्न आता है। इस शरीर में राग-द्वेष में फंसी हुई आत्मा शुद्ध है, यह नहीं कहा जा सकता।

तीन भूमिकाएं

हमारी तीन भूमिकाएं हैं—शुभ की भूमिका, अशुभ की भूमिका और संवर की भूमिका। जहां शुभ और अशुभ दोनों नहीं हैं, पुण्य और पाप दोनों क्षीण हो जाते हैं, वहां न शुभ होता है, न अशुभ होता है। जब तक हमारा जीव अशुद्ध है तब तक वह शुभ और अशुभ—दोनों को पैदा करता रहेगा। व्यक्ति स्वयं अशुभ को पैदा कर रहा है। इसमें बाहर का कोई लेना-देना नहीं है। अशुभ को न ईश्वर पैदा कर रहा है, न शैतान पैदा कर रहा है, न कोई तीसरी शक्ति उसे पैदा कर रही है। स्वयं का अशुद्ध जीव ही उसे पैदा कर रहा है।

दुःख का स्रोत

दुःख का स्रोत है— आस्रव। हम यह स्वीकार करें— हमारे भीतर ज्ञान है, दर्शन और आनंद है पर उसके साथ ही अज्ञान है, अदर्शन है और आनंद

यह दुःख कहां से आ रहा है ?

भी बाधित है इसीलिए अशुद्ध जीव दुःख को पैदा कर रहा है। जीव की पहली समस्या यह है कि वह पुद्गल के साथ जुड़ा हुआ है और पुद्गल के योग ने एक समस्या पैदा कर दी, वह है चंचलता। दुःख का कारण है—चंचलता। मन, वाणी और शरीर—तीनों चंचल बने हुए हैं। महर्षि पंतजलि ने लिखा—दुःख, दौर्मनस्य आदि चंचलता से उत्पन्न समस्याएं हैं। चंचलता नहीं है तो दुःख नहीं होगा। हम समाधि में बैठ जाएं, एकाग्र हो जाएं, कोई दुःख नहीं होगा, दौर्मनस्य नहीं होगा, प्रकंपन नहीं होगा, श्वास-निःश्वास की अव्यवस्था नहीं होगी। ये सभी समस्याएं चंचलता में पैदा होती हैं।

समस्या है चंचलता

हम जैन दर्शन की दृष्टि से विचार करें। जैन दर्शन के अनुसार चंचलता के साथ चार बड़ी समस्याएं पैदा होती हैं—मिथ्या दृष्टिकोण, आकांक्षा, प्रमाद और आवेश। अग्नि और वायु का संबंध है। यदि आक्सीजन नहीं मिलेगी तो आग बुझ जाएगी। दृष्टिकोण मिथ्या है, आकांक्षा है, आवेश है, प्रमाद और उत्तेजना भी है किन्तु जब तक चंचलता का योग नहीं मिलता, यह प्राणवायु नहीं मिलती तब तक वे उद्दीप्त नहीं होते। योग के द्वारा, चंचलता के द्वारा इन सबका उद्दीपन हो रहा है। हमारे भीतर जितनी भी समस्याएं हैं, उन्हें प्राण दे रही है हमारी चंचलता।

कायोत्सर्ग का अर्थ

ध्यान करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले कायोत्सर्ग के बारे में समझाया जाता है। कायगुप्ति होगी, काया की स्थिरता सधेगी, चंचलता अपने आप कम हो जाएगी। दूसरा सूत्र है—वाक् गुप्ति, स्वरयंत्र का शिथिलीकरण, कंठ का कायोत्सर्ग। तीसरा सूत्र है—चिन्तन का निरोध। जब मन, वाणी और काया—इन तीन का निरोध होगा तब ध्यान होगा। जितनी काया की एकाग्रता सधेगी, वाणी और मन की एकाग्रता सधेगी, ध्यान उतना ही प्रबल और लाभकारी होगा। जब रसद की सप्लाई ही नहीं होगी तो सेना लड़ेगी कैसे? काया, वाणी और मन के द्वारा जो रसद मिलती है, जब वह बंद हो जाएगी

तब ध्यान का अध्याय प्रारंभ होगा, आश्रव का द्वार सिकुड़ जायेगा, बाहर से आना बंद हो जाएगा। इस स्थिति में ही ध्यान सधता है, ज्ञाता को समझने का अवसर मिलता है।

दो अवस्थाएं

समस्या है मूढ अवस्था। जब तक चित्त की मूढ अवस्था रहेगी तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। यह अवस्था बनती है श्वास, योग और चंचलता के कारण। जितना श्वास, जितना योग, जितनी चंचलता उतनी क्षिप्त अवस्था। इस स्थिति में सत्त्वगुण कमजोर हो जाता है, रजोगुण और तमोगुण प्रबल हो जाता है। दो अवस्थाएं हैं— अज्ञानता की अवस्था और मूढता की अवस्था। व्यक्ति नहीं जानता, यह अज्ञानता है। एक व्यक्ति जानते हुए भी नहीं जानता, यह मूढता है। आश्रव का पहला प्रकार है— मिथ्या दृष्टिकोण। मिथ्या दृष्टिकोण बना और मूढता आ गई। मूढ व्यक्ति जाता है— सुख की दिशा में और प्राप्त करता है— दुःख।

चंचलता और आश्रव

दुःख का पहला स्रोत है—मिथ्या दृष्टिकोण। दूसरा स्रोत है—अविरति—आकांक्षा। व्यक्ति में इतनी आकांक्षा है कि जिसका कोई अंत नहीं। तीसरा स्रोत है—प्रमाद। व्यक्ति को धन याद रह जाता है, मान और अपमान याद रह जाता है, गाली याद रह जाती है किन्तु मैं चैतन्यमय हूं, आनन्दमय हूं, यह याद नहीं रहता। चौथा स्रोत है—कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन सबको उद्दीप्त करती है—चंचलता। जो व्यक्ति आत्मा से परमात्मा बनना चाहता है, ध्यान करना चाहता है, उसे सबसे पहले ध्यान देना होगा चंचलता पर। चंचलता मिटेगी, आश्रव का द्वार बंद हो जाएगा, दुःख का स्रोत बन्द हो जाएगा।

यह दुःख कहां से आ रहा है ?

१९७

स्वतंत्र भी बंधा हुआ है

जो दिखाई देता है, वह है शरीर । इस शरीर में बहुत कुछ है, पर वह आंखों से दिखाई नहीं देता, कानों से सुनाई नहीं देता, किसी इन्द्रिय की पकड़ में नहीं आता । फ्रायड ने जीवन की व्याख्या मन के दो संभागों के आधार पर की । एक संभाग है चेतन, दूसरा है अचेतन । यूंग ने इस अवधारणा को मान्य नहीं किया । यूंग ने कहा— मन बहुत छोटा तत्व है । हमारा चित्त स्थायी है, साथ में रहने वाला है । चेतन और अचेतन— ये दोनों चित्त के संभाग हैं । चेतन है प्रकाशमय और अचेतन है अन्धकारमय । किन्तु चेतन और अचेतन— दोनों का योग करने पर ही जीवन की समग्रता के साथ व्याख्या की जा सकती है ।

जीवन के चार आयाम

जैन दर्शन में जीवन के चार विशेष आयाम माने गए हैं—आश्रव, बंध, पुण्य और पाप । इन चारों के आधार पर जीवन की व्याख्या की जा सकती है । एक तत्त्व है आश्रव, जो बाहर से निरन्तर ग्रहण कर रहा है । एक तत्त्व है बंध, उसका काम है भण्डारण करना । जो भंडार बन गया, वह समय-समय पर बाहर आता है, आन्तरिक चेतना को प्रभावित करता है । उसी के आधार पर चेतन का आचरण और व्यवहार चलता है । चेतन की व्याख्या करने के लिए भीतर में जो अंधकारमय भाग है, जो प्रकाश नहीं है, उसे समझना जरूरी है, वह है बंध । मनोविज्ञान के अचेतन तत्व की जैन दर्शन की परिभाषा में एकांश तुलना करें तो वह है— बंध । बंध है अचेतन । जैसे अचेतन तत्त्व बाहरी उद्दीपनों से प्रगट होकर चेतन को प्रभावित करता है

वैसे ही बंध भी बाहरी उद्दीपनों या काल-मर्यादा को प्राप्त कर चेतन को प्रभावित करता है ।

फ्रायड का अभिमत

फ्रायड ने माना—अचेतन में गंदगी भरी है, दमित वासनाएं भरी हुई हैं, बुराइयां ही बुराइयां हैं । यूंग का मानना था—अचेतन में केवल बुराइयां ही नहीं हैं, उसमें अच्छाइयों के संस्कार भी हैं । जैन दर्शन का अभिमत है—बंध में पुण्य भी है, पाप भी है । पुण्य और पाप—दोनों के परमाणु संचित हैं । समय-समय पर ये दोनों प्रकट होते रहते हैं । कभी पुण्य के स्कंध बाहर आ जाते हैं, कभी पाप के स्कंध बाहर आ जाते हैं । इस बाहर आने की अवस्था को कहा गया— विपाक । उनकी फल देने की शक्ति को कहा गया— अनुभाग । उनकी काल-मर्यादा को कहा गया—स्थिति और उनके स्वभाव को कहा गया—प्रकृति । जो भी परमाणु भीतर जाते हैं, उनमें एक स्वभाव पड़ जाता है । वे परमाणु स्वभाव के अनुसार अपना अपना काम करते हैं । वे काल-मर्यादा से बंधे हुए हैं । उन्हें एक निर्धारित काल तक भंडार में रहना होता है । जब काल-मर्यादा पूर्ण होती है तब वे परिपक्व होकर बाहर आते हैं, व्यक्ति को प्रभावित करते हैं । उनका फलानुभव होता है, व्यक्ति को उनका फल मिलता है । यह है अन्तर्जगत् का लेखा-जोखा ।

यूंग का दृष्टिकोण

फ्रायड ने बहिर्मुखता के आधार पर चित्त का अध्ययन किया, बाह्य जगत् में होने वाले मुख्य मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया । यूंग ने आन्तरिक जगत् का अध्ययन किया । उनके जो साइकोलॉजिकल प्वाइंट्स हैं, उनमें अन्तर्मुखी और बाह्यमुखी—दोनों व्यक्तित्व मिलते हैं । आन्तरिक अध्ययन का विषय है— व्यक्ति में क्या-क्या अभिव्यक्तियां होती हैं, व्यक्ति कैसे कैसे सोचता है और चलता है ? बाहरी जगत् में उसका मानवीय व्यवहार कैसा होता है ? हमारा अन्तर् का जगत्, अचेतन का जगत् बहुत बड़ा है । वह अंधकारमय और अज्ञात है । अचेतन को समझने के लिए कर्म-शरीर

स्वतंत्र भी बंधा हुआ है

को समझना जरूरी है। स्थूल शरीर से सूक्ष्म है— तैजस शरीर। उससे भी सूक्ष्म है—कर्म-शरीर। यह कर्म-शरीर है सूक्ष्मतर। यह हमारा अचेतन का स्तर है। बाहर से जो भी लिया जाता है, वह सारा कर्म-शरीर में चला जाता है। ग्रहण करने का कारण है—कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनकी प्रेरणा से प्रेरित होकर जीव कर्म के पुद्गलों का ग्रहण करता है। वे कर्म के परमाणु भीतर जाकर भंडार बन जाते हैं। फिर वे पकते हैं और पकने के बाद फल देते हैं।

मनोविज्ञान : चार क्रियाएं

मनोविज्ञान में चार क्रियाएं मानी गईं—संवेदन, चिंतन, भावना और अन्तर्दृष्टि। बाह्य जगत् में चार क्रियाएं हो रही हैं। प्रश्न है— इनका स्रोत कहां है? स्रोत का पता नहीं चलता है तो बड़ा भ्रम पैदा हो जाता है। हम केवल शरीर को ही न देखें, वाणी और संवेदन को ही न देखें, हम उसे गहराई से देखें, जहां से चिन्तन, संवेदनाएं और भावनाएं आ रही हैं। वह है कर्म-शरीर—अचेतन जगत्। हम कर्म-शरीर की प्रक्रिया को समझें, उसका अध्ययन करें। कर्म-शरीर क्या है? उसे पोषण कौन दे रहा है? वह कैसे हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित कर रहा है? इस प्रक्रिया को समझने के लिए पुण्य, पाप, आश्रव और बंध— इन चार तत्त्वों को समझना होगा। जब तक यह तत्त्व-चतुष्क समझ में नहीं आएगा तब तक न उलझनों का अन्त होगा, न मानसिक समस्याओं और दुःखों का अन्त होगा।

प्रश्न स्वतंत्रता का

हम अपने रूप में नहीं रह सकते क्योंकि हमारा स्रोत खुला हुआ है। जब तक कर्म-शरीर की यह क्रिया बंद नहीं होगी, अचेतन प्रकंपित नहीं होगा तब तक यह चक्र निरन्तर चलता रहेगा। आश्रव होता है और वह बहुत सामग्री भीतर भेज देता है। जो शरीर भरेगा, वह बाहर आएगा और जो बाहर आएगा, वह प्रभावित करेगा। इस आधार पर हमारे चरित्र और व्यवहार की व्याख्या हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है— मैं स्वतंत्र हूँ। स्वतंत्रता

का अहंकार भी होता है। पर क्या हम सही अर्थ में स्वतंत्र हैं ? स्वतंत्र नहीं हैं, यह नहीं कहा जा सकता। यदि व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है तो जीवन की व्याख्या करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। वह कोरी कठपुतली बन जाएगा। किन्तु आदमी कोरी कठपुतली नहीं है। वह स्वतंत्र भी है।

संचालक कौन है ?

जीवन में दोनों प्रकार के व्यवहार मिलते हैं। व्यक्ति कहीं कहीं अपनी उदात्त चेतना के द्वारा ऐसा स्वतंत्र व्यवहार करता है कि कोई आड़े नहीं आता। कहीं-कहीं वह कठपुतली जैसा व्यवहार करता है, जैसे कोई दूसरा उसे नचा रहा है। प्रश्न होता है— उसे कौन नचा रहा है ? कौन चला रहा है ? ईश्वरवादी मानते हैं— ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। प्रत्येक मनुष्य के जीवन को ईश्वर चला रहा है, किन्तु कर्मवाद को मानने वाला ऐसा नहीं मानता। क्या कर्मवाद चला रहा है ? ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। अगर कर्मवाद चलाए तो ईश्वरवाद क्यों न चलाए ? कर्मवाद भी व्यक्ति को नहीं चलाता। चलाने वाली हमारी अपनी आत्मा है, हमारी अपनी चेतना है। बीच-बीच में अनेक बाधाएं अवश्य आती हैं, इसलिए आदमी एक जैसा नहीं चल पाता।

व्याख्या का सूत्र

प्रश्न होता है— आज तक कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ, जिसका जीवन एक जैसा रहा हो ? जीवन में उतार-चढ़ाव न आए हों। इसका कारण क्या है ? इसकी व्याख्या का सूत्र क्या है ? इसकी व्याख्या का सूत्र वही है— कर्मशरीर। इस अन्धकारमय जगत् में पुण्य और पाप का भंडार है। पाप का भी भण्डार भरा है, पुण्य का भी भंडार भरा है। जिसको मौका मिलता है, वह बाहर आ जाता है और व्यक्ति को प्रभावित कर देता है। पाप सामने आता है तो अशुभ सामने आ जाता है, जीवन में अशुभ आचरण और व्यवहार होने लगता है। पुण्य सामने आता है तो जीवन में शुभ आचरण और व्यवहार होने लग जाता है। शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप— दोनों का भंडार हमारे

वह ज्ञाता होना चाहता है

२०१

भीतर भरा पड़ा है। वह जैसा-जैसा बाहर आता है, आदमी वैसा-वैसा बनत जाता है। इसी अर्थ में कहा जाता है— बंधा हुआ व्यक्तित्व। आदमी मुक्त नहीं है, बंधा हुआ है।

दोहरा व्यक्तित्व

हमारा व्यक्तित्व सहज ही दोहरा है, बाह्य और आन्तरिक— दोनों है। एक व्यक्ति बहुत अच्छा आचरण करने वाला है पर चलते-चलते भीतर में जो पाप का प्रवाह था, उसका उदय हो गया और व्यक्ति का आचरण बदल गया। मनोवैज्ञानिकों ने चेतन और अचेतन के आधार पर व्यक्तित्व की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। उनके सामने कर्मवाद का सिद्धान्त नहीं था, पुण्य और पाप का सिद्धान्त नहीं था, इसीलिए उनकी व्याख्या पूर्ण नहीं बन पाई। मानवीय व्यवहार की व्याख्या तब तक पूर्णता के साथ नहीं की जा सकती जब तक पुण्य, पाप, बंध और आश्रव की प्रक्रिया को नहीं समझा जाता। इन्हीं चार आधारों पर कर्मवाद चलता है। इनको समझे बिना मानव-व्यवहार की सम्यक् व्याख्या नहीं की जा सकती।

दोनों तरफ चलें

व्यवहार के संदर्भ में हमें यह स्वीकार करना होगा कि भीतर से कोई अच्छा प्रवाह आ रहा था, तब तक सब ठीक-ठाक चल रहा था। भीतरी प्रवाह बदला और व्यक्ति का आचरण बदल गया। आचरण और व्यवहार की व्याख्या भीतरी प्रवाह के आधार पर, कर्म विपाक के आधार पर करनी होगी। आज एक आदमी बुरा आचरण कर रहा है पर अच्छा कहला रहा है, सुख भोग रहा है। इसका अर्थ है—भंडार में से कुछ आ रहा है। एक आदमी अच्छा आचरण कर रहा है पर बुरा कहला रहा है, दुःख भोग रहा है। इसका अर्थ है—भंडार में से कुछ आ रहा है। व्याख्या करने के लिए दोनों तरफ चलना होगा—भीतर से बाहर और बाहर से भीतर। दोनों प्रणालियां चल रही हैं। बाहर वाला भीतर को फीड कर रहा है, भीतर वाला बाहर को फीड कर रहा है। इन दोनों प्रणालियों को समझ लें तो जीवन की व्याख्या करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

नैतिकता का आधार

केवल बाहर के व्यवहार और आचरण के आधार पर व्यक्तित्व की व्याख्या हो तो पग पग पर नैतिकता के टूटने का अवसर बना रहता है। लोग कहते हैं— अमुक व्यक्ति ने इतनी बुराइयां कीं, स्मगलिंग की और वह बड़ा आदमी बन गया। अमुक आदमी ने रिश्वत ली, पैसे वाला बन गया। ईमानदारी की बात करने वाला गरीब रह जाता है, रोटी की समस्या से जूझता रहता है। यह नैतिकता को तोड़ने के लिए प्रेरित करने वाला उदाहरण है। जब तक आश्रव और बंध की प्रक्रिया को नहीं समझा जाएगा तब तक नैतिकता और चरित्र की बात समझ में नहीं आएगी। जब तक आश्रव और बंध को नैतिकता का आधार नहीं माना जाएगा तब तक नैतिकता का अस्तित्व ही नहीं बन पाएगा।

बाहरी जगत् के आधार पर कोई व्यक्ति नैतिक क्यों बनेगा ? इस दृश्य जगत् में वे व्यक्ति ज्यादा अच्छा जीवन जीते हैं, जो अनैतिकतापूर्ण आचरण करते हैं। इस आधार पर व्यक्ति नैतिक बनना पसन्द ही नहीं करता। नैतिकता का आधार बनता है आश्रव और बंध-। इसका अर्थ है— आज आदमी जो आचरण कर रहा है, उसके परिणाम का उसे पता नहीं है किंतु जिस दिन वह विपाक में आएगा, हो सकता है कि मनुष्य उस समय मनुष्य ही न रहे। यह है कर्म और बंध का सिद्धांत।

चतुष्कोण

जीवन का एक पहलू है बंध। हम बंधे हुए हैं और बांधने का जो चतुष्कोण है, वह है— आस्रव, बंध, पुण्य और पाप। जीवन का दूसरा पहलू भी है। मनोविज्ञान में चित्त और मन— ये दो तत्त्व माने गए हैं। हम इससे भी आगे चलें, इसमें एक चीज जोड़ दें— आत्मा। यूंग ने चित्त को आधार माना इसलिए आत्मा जैसा तत्त्व उसके लिए उपयोगी नहीं बना। यूंग ने मन को भी आधार के रूप में स्वीकार नहीं किया। फ्रायड ने मन को आधार माना। उसके लिए चित्त और आत्मा— दोनों का कोई मूल्य नहीं था। किन्तु एक दार्शनिक व्यक्ति मन और चित्त— दोनों से आगे चलेगा, आत्मा को आधार मानेगा।

स्वतंत्र भी बंधा हुआ है

संघर्ष का उद्देश्य

हम आत्मा को भी मानते हैं, चित्त और मन को भी मानते हैं। मन और चित्त से परे है आत्मा। मन और चित्त— इन दोनों को चेतन और अचेतन— दो संभाग मानें, हम कर्म-शरीर तक पहुंच जाएंगे। कर्म-शरीर बांधने वाला है, वह स्वतन्त्रता नहीं देगा। स्वतन्त्रता का मूल्यांकन करने के लिए आत्मा के पास जाना जरूरी है। आत्मा कर्म-शरीर से परे है और वह बंधन को तोड़ने के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहा है। उसे पारिभाषिक शब्दों में कहा जाता है— पारिणामिक भाव। संघर्ष में से जो आता है, वह है हमारी स्वतन्त्रता। आत्मा हमारी स्वतन्त्रता को बनाए हुए है और बंधन हमारी स्वतंत्रता को बाधित बनाए हुए हैं। यह स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का संघर्ष निरन्तर चल रहा है और उसके बीच चल रहा है हमारा व्यक्तित्व, जो स्वतन्त्र है किन्तु बंधा हुआ भी है।

बोया बीज बबूल का, आम कहां से होय ?

प्रत्येक आदमी सुख, स्वास्थ्य और दीर्घ आयुष्य चाहता है। एक शब्द में कहा जाए तो वह पुण्य या उसका फल चाहता है। अप्रिय और प्रतिकूल स्थिति कोई नहीं चाहता। किन्तु जो चाहता है, वह मिल नहीं पाता। यदि आज चिन्तामणि, कामधेनु, कामकुंभ जैसी बात सामने होती, हर चाह पूरी होती तो शायद दुनिया दूसरे प्रकार की होती। आदमी स्वर्ग को धरती पर लाने की बात नहीं सोचता। पर ऐसा हो नहीं रहा है। ऐसा क्यों नहीं हो रहा है, इसकी सबसे अधिक व्याख्या कर्मवाद ने की। इस संदर्भ में शरीरशास्त्र और मनोविज्ञान की पहुंच बहुत छोटी है। वे परिस्थिति, परिवेश और आनुवंशिकता के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं। आनुवंशिकता या परिस्थिति से जो मिलता है, वैसा ही व्यक्ति को प्राप्त होता है। कर्मवाद में आनुवंशिकता को मानने में कोई कठिनाई नहीं है किन्तु उसमें उससे आगे की एक सचाई स्वीकृत है और वह है अतीत का अर्जन।

जीवन की व्याख्या : आनुवंशिकता का सिद्धान्त

अतीत में हमने जो अर्जित किया है, वह हमें प्रभावित करता है। वही यह भेदरेखा खींच रहा है कि सुख होगा या दुःख ? प्रतिष्ठा मिलेगी या अप्रतिष्ठा ? काम निर्विघ्न होगा या नहीं ? ये सारे प्रश्न अतीत के अर्जन से जुड़े हुए हैं। हमारे भीतर कैसा भंडार भरा है, इसे समझना होगा। इस कारण को पकड़े बिना जीवन की सही व्याख्या नहीं हो सकती। आज इस कारण को न पकड़ पाने के कारण जीवन की बहुत सारी व्याख्याएं गलत होती जा रही हैं। हम यह मान लें— व्यक्ति आनुवंशिक होता है, उसके जीवन

बोया बीज बबूल का, आम कहां से होय ?

२०५

को आनुवंशिक प्रभाव प्रभावित करते हैं, परिस्थिति और परिवेश भी प्रभावित करते हैं। हो सकता है, कुछ बीमारियों के संदर्भ में यह तर्क संगत प्रतीत हो किन्तु आचरण के प्रसंग में, जहां सुख और संवेदन का प्रश्न है यदि आनुवंशिकता का सिद्धान्त काम करेगा तो आचरण का सारा सिद्धान्त समाप्त हो जाएगा, आचरण शास्त्र की मर्यादाएं, नैतिकता की सीमाएं समाप्त हो जाएंगी।

मूल है उपादान

आनुवंशिकता का सिद्धान्त जीवन के एक पहलू का स्पर्श करता है। जहां शरीर रचना, स्वास्थ्य अथवा कुछ मानसिकता का प्रश्न है वहां इसे कारण माना जा सकता है किन्तु जीवन की जो विविधता है, नानात्व है, उसकी व्याख्या आनुवंशिकता के आधार पर नहीं की जा सकती। परिस्थिति और परिवेश भी व्यक्ति को प्रभावित करते हैं किन्तु वे उपादान नहीं बन सकते। चाक और डंडा घड़ा बनने में निमित्त बन सकते हैं पर वे घड़ा नहीं बन सकते। उपादान ही नहीं है तो कोरा परिवेश या परिस्थिति क्या कर पाएगी? हम इनको स्वीकार करते हुए भी उपादान की बात पर आएँ। मूल बात है—उपादान।

क्रिया : प्रतिक्रिया

दो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं— कृत और प्रतिकृत, क्रिया और प्रतिक्रिया। व्यक्ति क्रिया की प्रतिक्रिया करता है। जब तक वह प्रतिक्रिया का जीवन जीता है, तब तक उसे उसका परिणाम भुगतना होता है। इसी आधार पर हम आचरण की मर्यादाएं निर्धारित कर सकते हैं। यदि प्रतिष्ठा, सुख, स्वास्थ्य और दीर्घ आयुष्य की आकांक्षा है तो जीवन का व्यवहार उसके अनुकूल होना चाहिए, प्रतिकूल नहीं। एक आदमी में आत्म-प्रशंसा और पर-निन्दा करने की आदत है। नीतिशास्त्र के अनुसार यह महान् दोष माना जाता है। इसका परिणाम है— अप्रतिष्ठा का अर्जन। कर्मशास्त्र की भाषा में इसका परिणाम है— नीचगोत्र का अर्जन। जब उसका विपाक आता है, व्यक्ति को

सम्मान नहीं मिलता । इसका कारण है—व्यक्ति ने आत्म-प्रशंसा और पर-निन्दा करते-करते कुछ ऐसा अर्जन किया है, जिसका कुछ ऐसा परिपाक आया है कि सब कुछ मिलने पर भी प्रतिष्ठा उसके भाग्य में नहीं होती ।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो दूसरों के गुणों का आच्छादन करते हैं, उन्हें छिपाना चाहते हैं और अवगुणों को खुला बांटना चाहते हैं । ऐसा करने वाला व्यक्ति भी नीचगोत्र कर्म का अर्जन करता है, अप्रतिष्ठा का बीज बोता है । व्यक्ति बीज बोता है— अप्रतिष्ठा का और चाहता है—प्रतिष्ठा, यह कैसे संभव है ? राजस्थानी कहावत है—बोया बीज बबूल का, आम कहां से होय ? बबूल का बीज बोने से आम कैसे पैदा होगा ? जब सुख और प्रतिष्ठा का बीज ही नहीं बोया है तो वह ढ़ां से आएगा ? आदमी की आदत है दूसरों की अच्छाइयों को ढकना और बुराइयों को प्रकाशित करना । इसका परिणाम है— नीचगोत्र का अर्जन या अप्रतिष्ठा की उपलब्धि । इसलिए वह प्रतिष्ठा चाहते हुए भी अप्रतिष्ठा को पा लेता है ।

कर्म का प्रभाव : निदर्शन

हम दूसरा उदाहरण लें । दो व्यक्तियों ने भागीदारी में व्यापार किया । लाभ की स्थिति में भी घाटा लगने लगा, घाटा निरन्तर बढ़ता चला गया । एक भागीदार ने सोचा— मुझे हट जाना चाहिए । उसने अपनी भागीदारी समाप्त कर दी । दुकान केवल एक व्यक्ति के हिस्से में रह गई । वह मालामाल हो गया । इसका कारण क्या है ? वही दुकान है, वही परिस्थिति है किन्तु घाटा ही नहीं मिटा, धन बरस पड़ा । इसका हेतु क्या है ? अतीत में जाने पर पता चलेगा—अंतराय कर्म के बंध के कारण ऐसा हुआ । एक व्यक्ति ने अंतराय कर्म का बंध किया, दूसरों के कार्य में बाधाएं ही बाधाएं डालीं । वे परिपक्व होकर उसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रस्तुत हो गईं । व्यक्ति को लगता है— जो भी करता हूं, उसमें विघ्न ही विघ्न आते हैं, हर कार्य उल्टा कार्य होता है । यदि यह बात समझ में आए तो आदमी वर्तमान जीवन में किसी के सामने विघ्न और बाधाएं उपस्थित करना नहीं चाहेगा, उसका आचार बदल जाएगा ।

बोया बीज बबूल का, आम कहां से होय ?

२०७

प्रश्न आचार की अवधारणा का

हमारे वर्तमान आचरण और व्यवहार के पीछे एक शृंखला है। उसे समझने पर ही आचार का निर्धारण संभव बन पाएगा। आचारशास्त्र के निर्धारण में अतीत और वर्तमान—दोनों की अनुभूतियों को एक साथ संयोजित किया जाए तभी आचार की सम्यक् व्याख्या हो सकती है। हमारा आचार कैसा होना चाहिए, उसकी अवधारणा केवल वर्तमान के आधार पर नहीं हो सकती। वर्तमान में व्यक्ति को आत्म-प्रशंसा और पर-निंदा करना अच्छा लगता है, किन्तु उसका परिणाम क्या होगा? इस पर यदि विचार करें तो न आत्म-प्रशंसा अच्छी लगेगी, न पर-निन्दा अच्छी लगेगी। व्यक्ति सोचेगा, जो भी करता हूँ, उसका अर्थ है—बीज बोता हूँ। उसकी जो फसल आएगी, उसे काटना होगा। इस बात को जो बराबर ध्यान में रखता है, उस आदमी की स्थिति बदल जाती है।

असातवेदनीय का परिणाम

कहा गया—नव तत्त्व का जो ज्ञान है, वह सम्यक् दर्शन है। प्रश्न है—ऐसा क्यों कहा गया? जो नव तत्त्व को जान लेता है, उसका दर्शन सम्यक् बन जाता है, यह किस दृष्टि से कहा गया? जब व्यक्ति आश्रव और बंध की स्थिति को जान लेता है, पुण्य और पाप की स्थिति को जान लेता है, तब उसका दृष्टिकोण अपने आप समीचीन बन जाता है। वह मिथ्या आचरण नहीं कर सकता। मिथ्या दृष्टिकोण इसलिए है कि व्यक्ति आश्रव, बंध, पुण्य और पाप की मर्यादा ठीक से नहीं जानता। एक आदमी ने कहा—मेरे पास मकान है, धन है, पुत्र है सुशील पत्नी है, सब कुछ है, फिर भी मैं दुःखी हूँ। कभी-कभी मन में आत्महत्या का विचार भी उठ जाता है। इसकी क्या व्याख्या करेंगे? इसका कारण है—सब कुछ है पर सात वेदनीय कर्म का उदय नहीं है। इसका अर्थ है—असातवेदनीय का प्रबल उदय है, सुखद और अनुकूल संवेदना का उदय नहीं है, विपाक नहीं है। एक वैज्ञानिक आत्महत्या कर लेता है, एक धनपति सेठ आत्महत्या कर लेता है क्योंकि उसका मन दुःखी होता है। व्यक्ति दुःखी क्यों होता है? हम इस पर भी विचार करें। उमास्वाति

ने बहुत सुन्दर कारण बतलाया— जो व्यक्ति दूसरों को दुःखी बनाता है, शोक संतप्त करता है, उसके असातवेदीय कर्म का बंध होता है। जब असातवेदीय कर्म का विपाक होता है तब सब कुछ मिलने पर भी चैन नहीं मिलता !

सातवेदीय : अनुकंपा का भाव

एक व्यक्ति, जिसमें अनुकंपा का भाव है, वह सबको आत्मवत् समझता है, किसी को सताना नहीं चाहता, दूसरों को सताने में प्रकंपन होता है। वह सोचता है— दूसरों को नहीं, अपने आपको सता रहा हूँ।

जब यह अनुकंपा का भाव जागता है तब सातवेदीय कर्म का बंध होता है। जब सातवेदीय कर्म का विपाक होता है, कुछ न होने पर भी आदमी सदा सुखी रहता है। हमने ऐसे लोगों को देखा है, जिनके पास सुख का कोई साधन नहीं है किन्तु वे इतनी मस्ती और आनंद डूबे रहते हैं कि उन्हें देखकर किसी भी व्यक्ति को ईर्ष्या हो जाए। उनकी प्रसन्नता का कारण है— सातवेदीय कर्म का उदय। धन मिल जाना ही पुण्य का उदय नहीं है। मैंने बड़े बड़े धनपतियों को अपनी आंखों के सामने रोते हुए देखा है। उनके दुःख-पूर्ण रुदन को देखते ही दया आ जाए। सुखी होने का संबंध है सात वेदीय कर्म से और सुख का परिपाक होता है अनुकंपा का जीवन जीने से। जो व्यक्ति क्रूरता का जीवन जीता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। आज सामाजिक जीवन में मनुष्यों के प्रति, पशुओं के प्रति भयंकर क्रूरता है। वर्तमान युग में मानसिक तनाव की समस्या प्रबल बन रही है। अनुकंपा कम हो और क्रूरता ज्यादा हो तो मानसिक तनाव क्यों नहीं होगा ?

दृष्ट-जन्म वेदीय : अदृष्ट-जन्म वेदीय

वेदीय कर्म का विपाक दो प्रकार से होता है। कुछ कर्म दृष्ट-जन्म वेदीय होते हैं और कुछ कर्म अदृष्ट-जन्म वेदीय होते हैं। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका इस दृष्ट जीवन, वर्तमान जीवन में ही परिपाक आ जाता है। ऐसा लगता है—मानसिक तनाव या मानसिक बीमारियां दृष्ट-जन्म वेदीय का परिपाक हैं और ये मानवीय क्रूरता के कारण बढ़ती चली जा रही हैं।

बोया बीज बबूल का, आम कहां से होय ?

२०९

ये दुःख और समस्याएं केवल आनुवंशिकता या परिस्थिति के साथ जुड़ी हुई नहीं हैं, इसलिए आचार का निर्धारण करते समय मनुष्य के आचरण पर भी ध्यान देना होगा। किस प्रकार का आचरण किस प्रकार की समस्या पैदा करता है और किस प्रकार का भंडार भरता है, यह जानना भी आचार-निर्धारण के लिए अपेक्षित होता है।

ज्ञान मीमांसा : कर्म-मीमांसा

एक है स्मृति का भंडार। व्यक्ति ने जो देखा, जैसा उल्लेखण हुआ, जैसी धारण बनी वैसी भावना हो आई। यह है—ज्ञान मीमांसा का क्षेत्र। इसका संबंध ज्ञान-मीमांसा से है। आचरण का संबंध कर्म-मीमांसा से है। दोनों की मीमांसा अलग-अलग है, दोनों में विरोधाभास है। स्मृति होना भी एक परिणाम है किन्तु इसका संबंध केवल हमारी ज्ञान की प्रक्रिया से है। हमने जैसी धारण की, वैसी स्मृति हो आई। ठीक ऐसा ही क्रम कर्म के संबंध में होता है। हमने जैसा आचरण किया, वही आचरण हमारे भीतर चला गया, रूढ़ हो गया, भंडार में जमा हो गया। उसे कोई उद्दीपन मिला, निमित्त मिला, काल का परिपाक आया, वह प्रगट हो गया।

बंध के हेतुओं का ज्ञान एक धार्मिक के लिए बहुत जरूरी है। इस ज्ञान के द्वारा मनोविज्ञान की बहुत सारी पहेलियों को सुलझाया जा सकता है। इससे जीवन के प्रति जागरूक होने का अवसर मिलता है। जब व्यक्ति को इस बात का बोध होगा—मेरे प्रत्येक आचरण का परिणाम भी मुझे भुगतना है, तब वह प्रत्येक कर्म के प्रति जागरूक बनेगा।

जागरूकता के सूत्र

जीवन में जागरूकता आए, व्यक्ति अपने प्रत्येक आचरण के प्रति जागरूक बने तो वह अकरणीय कार्यों से बच सकता है। प्रत्येक व्यक्ति भोजन करता है। वह सोचे—मैं जो खा रहा हूँ, उसका परिणाम क्या होगा? परिणाम को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। यदि ज्यादा खाया है तो अजीर्ण होगा, पाचन नहीं होगा, बड़ी परेशानी हो जाएगी, यह अल्पकालिक परिणाम है।

दीर्घकाल की दृष्टि से सोचें— मैं जो खा रहा हूँ, उसका शरीर पर क्या प्रभाव होगा ? मुझे जल्दी बूढ़ा बनना पड़ेगा, बीमारियाँ घेर लेंगी । यदि इसी प्रकार प्रत्येक कार्य की दोनों दृष्टियों से मीमांसा की जाए तो आदमी का आचार अपने आप स्वस्थ बन जाता है । वह ऐसे किसी आचरण को करना नहीं चाहेगा, जिससे अप्रतिष्ठा, दुःख, प्रतिकूल संवेदन, अल्प आयु को भोगना पड़े । इस जागरूकता को जगाना ही ध्यान का प्रयोजन है । आदमी में मूर्च्छा है, मूढ़ता है इसलिए वह जानते हुए भी ग़लत काम कर लेता है । यदि वह जागरूक है तो संभल जाएगा । इसीलिए ध्यान के साथ-साथ जागरूकता के सूत्रों को समझना जरूरी है । आश्रव, बंध, पुण्य और पाप—ये चार ऐसे सूत्र हैं, जिनके द्वारा जागरूकता को बहुत आगे बढ़ाया जा सकता है ।

क्या दरवाजा बंद है ?

चाबियां कहीं बाहर नहीं हैं, हमारे भीतर हैं। एक चाबी हाथ में ली, दरवाजा खुल गया, पर विशेष घर उसी चाबी से बन्द है। एक खुलता है, दूसरा बंद हो जाता है। दरवाजा खुला और प्रवाह आने लगा। दरवाजा बंद कर दिया, बाहर से सब कुछ आना बंद हो गया। फिर कोई दुःख नहीं। दुःख भीतर में है ही नहीं, यह सचाई है। जितना दुःख, संताप, भय और वेदना है, वह सब बाहर से आया हुआ है, अपने भीतर नहीं है। कहीं से कुछ मंगाया, कहीं से कुछ मंगाया और इतना भंडार भर लिया कि भीतर में एक कबाड़खाना जैसा बन गया। एक चाबी घुमाई, दरवाजे को बंद किया तो आयात बंद हो गया। इसका अर्थ है— नए सिरे से भीतर कुछ भी नहीं आ रहा है। दरवाजे को बंद करने की प्रक्रिया का नाम है— संवर। दरवाजा बंद हो गया, संवरण हो गया।

संवर : संवर की सिद्धि

बहुत लोग ऐसा त्याग करते हैं— मैं आज अमुक चीज नहीं खाऊंगा, अमुक काम नहीं करूंगा। व्यक्ति मानता है— मैंने त्याग कर लिया, मेरे संवर हो गया। यह एक भ्रम चलता है। वस्तुतः जब तक संवर की सिद्धि नहीं होगी तब तक संवर पूरा नहीं होगा। संवर करना और संवर की सिद्धि कर लेना— इन दोनों में बहुत फासला है। एक व्यक्ति यह त्याग कर लेता है कि मैं अमुक चीज नहीं खाऊंगा किन्तु जब तक उस चीज को खाने की भीतर में इच्छा बनी हुई है तब तक संवर की सिद्धि कहां हुई? संवर यानी संकल्प। संकल्प लेना और संकल्प को साध लेना— इन दोनों में बहुत अन्तर है। जब तक यह अन्तर नहीं मिटता, संवर की सिद्धि नहीं होती।

वही है परमात्मा

एक व्यक्ति ने रवीन्द्रनाथ टैगोर से पूछा— आपने गीतांजली में परमात्मा का बहुत सुन्दर और सजीव चित्रण किया है। क्या आपने परमात्मा को जान लिया ? जो लिखा गया है, वह परमात्मा को जानकर लिखा गया है या ऐसे ही लिख दिया गया है ? रवीन्द्रनाथ टैगोर इस प्रश्न को सुनकर अवाक् रह गए। इतना बड़ा प्रश्न ! उनके दिमाग में बिजली कौंध गई। वे प्रश्न का समाधान पाने के लिए निकल पड़े। गांव के बाहर एक पोखर आया। उन्होंने देखा, पोखर का पानी बहुत गंदा है। पर सूरज की उजली रश्मियां उस पानी में उजली ही दिखाई दे रही हैं। उनका मन ठहर गया। उन्हें उत्तर मिल गया— बस ! यही परमात्मा है। जो गन्दे में भी उजला रह सकता है, वही है परमात्मा।

आवश्यक है साधना

टैगोर के मन में एक द्वन्द्व पैदा हुआ, एक तड़प जागी और उन्हें समाधान मिल गया। जब मन में द्वन्द्व ही पैदा नहीं होता है तब साधना कैसे होगी ? और बिना साधना के सिद्धि कैसे होगी ? संवर की साधना के लिए मन में यह तड़प जागनी चाहिए— मैंने संवर किया है, त्याग लिया है, दरवाजा बंद किया है पर वह टिकेगा कैसे ? हवा का एक झोंका आएगा, दरवाजा खुल जाएगा। दरवाजा बंद किया है, संवर किया है तो उसकी सिद्धि के लिए साधना करनी होगी। बहुत आवश्यक है साधना करना। संवर की साधना के कुछ उपाय हैं। उन उपायों को काम में लिए बिना संवर सिद्ध नहीं होता। आचार्य उमास्वाति ने संवर की साधना के कुछ उपाय बतलाए हैं। वे ये हैं— गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-विजय और चारित्र।

कायगुप्ति

संवर की साधना का सबसे पहला उपाय है गुप्ति। गुप्तियां तीन हैं — काय-गुप्ति, वाक्-गुप्ति और मनो-गुप्ति। शरीर, वाणी और मन— इनका गोपन करना, संरक्षण करना एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। आश्रव अनेक हैं,

क्या दरवाजा बंद है ?

दरवाजे अनेक हैं । एक दरवाजा बंद करने से सारे दरवाजे बंद नहीं होते । सबसे बड़ा दरवाजा है शरीर का । इसमें बाहर से बहुत कुछ आ रहा है । हम इसे बंद करें । ताकि इसमें बाहर से ऐसा कुछ न आए, जो हमें दुःख दे, सताए । कायगुप्ति है— कायोत्सर्ग, शरीर को स्थिर बना लेना । शरीर की स्थिरता सधी, काय-गुप्ति हो गई । जो व्यक्ति कायोत्सर्ग नहीं करता, काया की गुप्ति नहीं करता और संवर भी चाहता है, उसका संवर कभी सिद्ध नहीं होता । उसका संकल्प मात्र संकल्प ही रह जाता है । संकल्प की परिपक्वता के लिए, संवर की सिद्धि के लिए आंच देनी होगी । वह आंच काय-गुप्ति के द्वारा संभव है ।

वागगुप्ति : मौन

सबसे पहली बात है स्थिरता । साधना का प्रथम सूत्र है स्थिरता, चंचलता को कम करना । चंचलता कम होगी तो दरवाजा अपने आप बंद हो जाएगा । हम शरीर की चंचलता को कम करें, वाणी की चंचलता को कम करें । बोलना आवश्यक है । बोले बिना काम नहीं चलता, पर अनावश्यक न बोलें । यदि हम आवश्यकतावश बोलें, तो दूसरों को संताप देने वाली वाणी न बोलें, हिंसा करने वाली वाली न बोलें । यदि ये सारे निरोध होते चले जाएंगे तो वाणी की स्थिरता सधती चली जाएगी, वाक् पर नियंत्रण होता चला जाएगा । वाणी का निरोध होता है तो एक दरवाजा बंद हो जाता है । वाक् निरोध के लिए भी साधना जरूरी है । हम आधा घंटा, एक घंटा काय-स्थिरता की साधना करें तो साथ-साथ वाणी का निरोध भी करें । प्रश्न है— वाणी का निरोध कब करें ? कुछ लोग नींद के समय बोलने का त्याग कर लेते हैं । वस्तुतः इससे वाक्गुप्ति की सिद्धि नहीं होती । मौन तब करना चाहिए जब बोलने का समय हो । इस स्थिति में ही मौन की सार्थकता हो सकती है ।

मनोगुप्ति : मन की सिद्धि

संवर की सिद्धि का एक उपाय है— मनोगुप्ति, मन की सिद्धि । मन न जाने बाहर से कितना कूड़ा-करकट ले आता है । उसके निरोध की तीन

स्थितियां हैं। पहली स्थिति है— अकुशल का निरोध, मन अकुशल न हो।
 ऐसी साधना की जाए, जिससे मन में कोई अकुशल—अशुभ विचार न आए।
 दूसरी स्थिति है— कुशल का संकल्प, कुशल मन का प्रवर्तन। मन पवित्र
 ही पवित्र रहे। तीसरी स्थिति है— कुशल मन का निरोध। कोई विचार नहीं,
 चिन्तन नहीं, निर्विचार अवस्था, अमन अवस्था।

जब शरीर की सिद्धि, वाणी की सिद्धि और मन की सिद्धि घटित होती
 है तब संवर की सिद्धि होती है।

अनुप्रेक्षा

संवर की सिद्धि का एक उपाय है— अनुप्रेक्षा। प्रेक्षा के साथ जुड़ा हुआ
 है अनुप्रेक्षा का तत्त्व। यह संवर की साधना का बहुत सुन्दर उपाय है। हम
 पदार्थ के साथ जीते हैं, पदार्थ के साथ रहते हैं। हम परिवार के बीच जीते
 हैं, रहते हैं, मकान, कपड़े, खाद्य-सामग्री आदि का हम उपभोग करते हैं,
 उनसे हमारा एक लगाव होता है। वह लगाव दुःख का कारण बनता है।

पदार्थ दुःख नहीं देता। दुःख देता है लगाव। आज एक घटना घटती
 है। कालान्तर में वह सामान्य बन जाती है, पर उसका शोक मन में बैठ जाता
 है। घटना से जो आघात लगा है, वह आघात रह जाता है। आघात क्यों
 लगता है? आघात लगता है लगाव के कारण। यदि उस व्यक्ति या पदार्थ
 के साथ लगाव न हो तो कोई आघात नहीं लगेगा। उस आघात से, लगाव
 से बचने की साधना का नाम है अनुप्रेक्षा। हम जैसे-जैसे अनुप्रेक्षा का अभ्यास
 करेंगे, वैसे-वैसे संवर की चेतना जागृत होती चली जाएगी।

अनित्य अनुप्रेक्षा

आश्रव का मतलब है— आत्मा की वह परिणाम धारा, जो कर्मों को
 आकर्षित करती है। संवर का मतलब है— आत्मा की वह परिणाम धारा,
 जो कर्म के आगमन को एकदम रोक दे, दरवाजा बंद कर दे। हम केवल
 उच्चारण मात्र से दरवाजा बंद कैसे कर सकते हैं? एक व्यक्ति कहता है—
 मुझे शोक करने का त्याग है, दुःख करने का त्याग है। क्या इस संकल्प के

क्या दरवाजा बंद है ?

२१५

उच्चारण मात्र से शोक और दुःख का भाव समाप्त हो जाएगा ? संकल्प मात्र से यह स्थिति बनती नहीं है । जब संकल्प सिद्ध होता है तभी वांछित परिणाम मिल सकता है ।

अनुप्रेक्षा संकल्प की सिद्धि में, संवर की सिद्धि में साधनभूत बनती है । संकल्प-सिद्धि में इसका योग महत्त्वपूर्ण है । हम बार-बार यह अनुप्रेक्षा करें— सब संयोग अनित्य हैं । जिस पदार्थ का योग मिला है, वह अनित्य है । यह अभ्यास जितना परिपक्व होगा, उतना ही पदार्थ के प्रति लगाव कम होता चला जाएगा । जैसे-जैसे आसाक्ति कम होगी, अनासक्ति सधेगी, वैसे-वैसे संवर भी सधता चला जाएगा ।

सुरक्षा कवच

दो भाई आपस में धन का बंटवारा कर रहे थे । सब कुछ बराबर बांट लिया किन्तु दो चीजें बच गईं । एक थी हीरे की अंगूठी और एक थी सामान्य अंगूठी, जिस पर लिखा था प्रज्ञा की अंगूठी । बड़े भाई ने कहा— मैं हीरे की अंगूठी लूंगा । छोटे भाई ने बड़े भाई का आग्रह स्वीकार कर लिया । उसने सामान्य अंगूठी में ही संतोष का अनुभव किया । बड़ा भाई हीरे की अंगूठी को पाकर उन्मादी बन गया, व्यसनों में फंस गया, बरबाद हो गया । छोटा भाई प्रज्ञा की अंगूठी को देखता रहा, उसकी अनुप्रेक्षा करता रहा । उसने उन्माद को पनपने का अवसर ही नहीं दिया । उसके सामने यह सूत्र था— जो कुछ मिला है, वह सब अनित्य है । यह अनित्यता का सूत्र उसका सुरक्षा-कवच बन गया ।

एकत्व अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा का एक प्रकार है— एकत्व अनुप्रेक्षा । व्यक्ति सोचे— मैं अकेला हूँ, अकेला आया हूँ, मुझे अकेले जाना है । यह सचाई है— अपना किया हुआ स्वयं मुझे ही भोगना है । कर्म करने में भी अकेला है व्यक्ति और उसका फल भोगने में भी अकेला है व्यक्ति । अपना किया हुआ कर्म मुझे ही भोगना होगा— यह भावना जितनी प्रबल बनेगी, यह संस्कार जितना पुष्ट होगा, उतना

ही संवर सिद्ध होगा ।

एकत्व की अनुप्रेक्षा से आसक्ति की तीव्रता टूटती है, स्वजन के प्रति डोने वाला स्नेह एवं अनुराग बंद होता है और पर-जन के प्रति जो द्वेष है, वह भी बंद हो जाता है । सबसे बड़ी समस्या है— पर-जन के प्रति विराग और स्व-जन के प्रति अनुराग । भ्रष्टाचार के पीछे सबसे बड़ा कारण है— स्व-जन के प्रति अनुराग की भावना और पर-जन के प्रति विराग की भावना ।

व्यक्ति सोचता है— मेरा परिवार सुखी रहे, मेरे रिश्तेदार सुखी रहें, समृद्ध बनें, मेरे आदमी निरन्तर आगे बढ़ें । यह भावना है स्व-जन के प्रति अनुराग की । इसके कारण ही व्यक्ति दूसरों को सताता है, दूसरों का शोषण करता है । एकत्व की अनुभूति से स्वजन के प्रति अनुराग भी प्रतिबंधित होता है और पर-जन के प्रति विराग भी प्रतिबंधित हो जाता है ।

अन्यत्व अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा का एक प्रकार है— अन्यत्व अनुप्रेक्षा । शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है— यह है अन्यत्व अनुप्रेक्षा । यह अनुप्रेक्षा जितनी आगे बढ़ती है, व्यक्ति उतना ही शरीर की प्रतिबद्धता से मुक्त होता है । जब तक शरीर का ममत्व रहता है तब तक संवर की साधना सिद्धि तक नहीं पहुंच पाती । शरीर की प्रतिबद्धता से मुक्त होने का एक उपाय है— कायगुप्ति और दूसरा उपाय है— शरीर के प्रति निर्मोही होना ।

सारी मूर्च्छाएं शरीर से ही पैदा होती हैं । जैसे-जैसे अन्यत्व अनुप्रेक्षा पुष्ट बनती है, शरीर की प्रतिबद्धता कम होती चली जाती है, संवर-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त बन जाता है ।

संकल्प-सिद्धि का परिणाम

कहा जाता है पुजारी की साधना नहीं होगी तो मंदिर का दरवाजा कैसे खुलेगा ? यह उदाहरण की भाषा है । जब तक गुप्तियों की आराधना नहीं होगी, तब तक संवर की आराधना कैसे होगी ? केवल उच्चारण मात्र से कुछ हो जाए, यह संभव नहीं है । साधना के बिना सिद्धि नहीं होती और

क्या दरवाजा बंद है ?

२१७

सिद्धि के बिना कोई वांछित लाभ नहीं मिल पाता । जब साधना सधती है तब 'त्याग है'— इस कथन मात्र से दरवाजा बंद हो जाएगा । संकल्प सिद्धि होने पर चेतना की ऐसी स्थिति बन जाती है कि संकल्प लेते ही आश्रव का दरवाजा बंद हो जाता है । जितनी समस्याएं, जितने क्लेश हमारे भीतर पैदा होते हैं, हम उन सबके दरवाजे बंद कर सकते हैं ।

कल्याण का पथ

दरवाजों को बंद करने का उपाय है— संवर की सिद्धि । साधना के द्वारा उस चाबी को घुमाना है, जो दरवाजे खोले नहीं, बंद कर दे । उस चाबी को घुमाने से पहले साधनों का अभ्यास और उसकी सिद्धि जरूरी है । अभ्यास-साध्य है संवर की सिद्धि । यदि संवर सिद्ध होगा तो हम अपने आपको बहुत सारे कष्टों से बचा लेंगे । इसके सिवाय कोई उपाय ही नहीं है । यही उपाय है दुःख मुक्ति का, दरवाजे को बंद करने का । हम इस उपाय के प्रति सजग बनें, कल्याण का पथ उपलब्ध हो जाएगा ।

मनोवृत्ति को बदला जा सकता है

हम श्वास लेते हैं, श्वास का ग्रहण होता है। योग की भाषा में इसे पूरक कहा जाता है। हम श्वास निकालते हैं। योग की भाषा में यह रेचन है। हम श्वास को रोकते भी हैं। योग की भाषा में यह कुंभक- संयम है। स्वास्थ्य के लिए रेचन और कुंभक- दोनों आवश्यक हैं, जो बीमारी है, उसका शोधन कर दिया जाए, रेचन कर दिया जाए। उसके बाद उसका निरोध कर दिया जाए ताकि बीमारी के तत्त्व पुनः प्रविष्ट न हों। साधना की भी यही प्रक्रिया है। आध्यात्मिक स्वास्थ्य या मानसिक स्वास्थ्य की प्रक्रिया भी यही है।

शोधन और निरोध

आध्यात्मिक स्वास्थ्य का सूत्र है- शोधन करें, रेचन करें और निरोध कर दें। शोधन और निरोध का मार्ग बतलाया गया- तपसा निर्जरा च- तपस्या और निर्जरा के द्वारा शोधन करें, निरोध करें। संवर का काम है रोक देना, निरोध कर देना। तपस्या का कार्य उभयमुखी है। उसका काम शोधन करना भी है, निरोध करना भी है। व्यक्ति उपवास के द्वारा आश्रव का निरोध भी करता है। उपवास है- खाने की प्रवृत्ति का निरोध किन्तु उसके साथ-साथ व्यक्ति शुभ प्रवृत्ति करता है, उससे निर्जरा होती है, कर्म का शोधन होता है। तपस्या से ये दोनों काम होते हैं। इन दोनों के बिना विशुद्धि नहीं हो सकती। रेचन करो, इसका अर्थ है- भीतर जो खराबी है, उसे निकालो। निरोध करो, इसका अर्थ है- पुनः खराबी पैदा न हो, इसकी व्यवस्था करो। रेचन है- निर्जरा। निरोध है संवर। सारी आध्यात्मिक प्रक्रिया इन दो शब्दों में समाहित है- संवर और निर्जरा, रोको और विशुद्धि करो।

मनोवृत्ति को बदला जा सकता है

२१९

उदासी का रहस्य

आयुर्वेद के एक महान् आचार्य थे। उनका नाम था आचार्य पुनर्वसु। उनके पट्टशिष्य थे— अग्निवेश। एक दिन दोनों भ्रमण कर रहे थे। चलते-चलते आचार्य पुनर्वसु ने आकाश को निहारा। उनके कदम रुक गए, चेहरे पर उदासी छा गई।

अग्निवेश अचानक आए इस परिवर्तन से अवाक् रह गया। उसने पूछा—‘गुरुदेव ! यकायक यह उदासी क्यों छा गई ?’

पुनर्वसु बोले—‘मैंने चरक की संहिता का प्रणयन किया। मानव समाज को स्वस्थ रखने के लिए जितना करना चाहिए था उतना मैंने कर दिया, परन्तु आज लगता है— मेरा काम पूरा नहीं हुआ।’

‘गुरुदेव ! यह कैसे कह रहे हैं आप ?’

‘वत्स ! मैंने आकाश-दर्शन से यह जान लिया है कि भविष्य में क्या होने वाला है ?’

‘गुरुदेव ! भविष्य में क्या होगा ?’

‘वत्स ! मैंने भविष्य में होने वाली तीन स्थितियां देखी हैं। पहली बात है— प्रकृति-विपर्यय। प्रकृति के जो पांच भूत हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये पांचों प्रकंपित हो रहे हैं। आज की भाषा में हम इसे पर्यावरण का प्रदूषण कह सकते हैं। आदमी कितनी ही दवा ले, यह प्रकृति-विपर्यय, पर्यावरण-प्रदूषण उसे फिर बीमार बना देगा। दूसरी बात है— मनुष्य का मन अधर्म में रमण करेगा। हिंसा, झूठ, चोरी, क्रूरता आदि बुरी प्रवृत्तियों में वह अधिक लिप्त रहेगा, मानसिक तनाव बढ़ेगा। तीसरी बात है— बुद्धि का विपर्यय। आदमी नित्य को अनित्य मान लेगा, अनित्य को नित्य मान लेगा। बुद्धि का ऐसा विपर्यय होगा कि आदमी शाश्वत और अशाश्वत में भेद नहीं कर पाएगा।’

आचार्य पुनर्वसु ने कहा— ‘वत्स ! ऐसा लगता है— यह त्रिदोष पर अवलंबित चिकित्सा-शास्त्र और औषधियां काम नहीं करेंगी। हम अब इसे इतना ही रहने दें और एक नया शास्त्र बनाएं, जिससे मनुष्य के मन और बुद्धि की तथा प्रकृति की स्थिति भी ठीक हो सके।’

दोनों जरूरी हैं

स्वास्थ्य के लिए दोनों बातें जरूरी हैं— मन का निरोध और शोधन । दवा से शोधन हो सकता है पर निरोध के लिए अपनी आंतरिक शक्ति, प्राणशक्ति ज्यादा कारगर होती है । केवल निरोध ही निरोध हो या केवल शोधन ही शोधन हो तो हस्ति-स्नानवत् कार्य हो जाएगा । निरोध और शोधन—दोनों साथ-साथ चलें तभी पूरी प्रक्रिया बनती है । एक ओर निरोध की प्रक्रिया को अपनाएं तो दूसरी ओर शोधन की प्रक्रिया को भी अपनाएं । शोधन के लिए तपस्या बहुत आवश्यक है । हम निर्जरा और तपस्या को दो भी कह सकते हैं । वे दोनों एक भी हैं । तपस्या के द्वारा निर्जरा होती है इसलिए निर्जरा को ही तप मान लिया गया । वास्तव में मानना चाहिए था— संवर और तपस्या । किन्तु तपस्या के स्थान पर निर्जरा को मान लिया गया । तपस्या संवर और निरोध का भी उपाय है, शोधन का भी उपाय है ।

ध्यान : संवर भी, निर्जरा भी

ध्यान एक तपस्या है । ध्यान करना संवर भी है, निर्जरा भी है । एक व्यक्ति ध्यान करता है तो वह अपने शरीर की प्रवृत्ति का निरोध करना चाहता है । हम यह मानकर चलें, पूर्ण निरोध हमारे वश की बात नहीं है । वह अपने आप होता है । जितनी आंतरिक शुद्धि होगी उतना ही निरोध होगा । संवर का आंतरिक शुद्धि से बहुत संबंध है । निरोध की प्रक्रिया हमारी आंतरिक प्रक्रिया है । तोड़ने की प्रक्रिया प्रयत्न के साथ चलती है । हम इस भाषा में कह सकते हैं— आंतरिक शुद्धि है निरोध, बाहरी अच्छी प्रवृत्ति है तपस्या या निर्जरा । हम जितनी तपस्या करते हैं उतनी ही निर्जरा होती चली जाती है ।

परम पुरुषार्थ है निवृत्ति

ध्यान एक निवृत्ति है । हम ध्यान में मन को एकाग्र करने का प्रयास करेंगे तो गर्मी बहुत बढ़ जाएगी । मन को चलाने में जितना पुरुषार्थ करना पड़ता है, मन को एकाग्र करने में उससे अधिक पुरुषार्थ करना पड़ता है । प्रवृत्ति करना सरल है, निवृत्ति करना बहुत कठिन है । ध्यान के लिए बहुत

मनोवृत्ति को बदला जा सकता है

२२१

कठोर श्रम चाहिए। कमजोर आदमी ध्यान नहीं कर सकता। जिसका मन और प्राणशक्ति दुर्बल है, वह ध्यान कैसे कर पाएगा? ध्यान में प्रबल पुरुषार्थ चाहिए। वस्तुतः निवृत्ति का अर्थ पुरुषार्थहीनता नहीं है। कहना चाहिए— प्रवृत्ति है पुरुषार्थ और निवृत्ति है परम-पुरुषार्थ। निवृत्ति में अधिक पुरुषार्थ करना होता है, इसीलिए ध्यान से गर्मी बढ़ जाती है, उष्मा बढ़ जाती है, वजन घट जाता है। प्रबल पुरुषार्थ है— मन को एकाग्र करना, मन की चंचलता का निरोध करना। ध्यान में मन की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध किया, संवर हो गया और मन की शुभ प्रवृत्ति की, निर्जरा हो गई। ध्यान के द्वारा शोधन और निरोध— दोनों होते हैं। केवल ध्यान ही नहीं, तपस्या के जितने प्रकार बतलाए गए हैं, उन सबसे निरोध भी होता है, संवर भी होता है, निर्जरा भी होती है।

व्यापक सिद्धान्त

बहुत व्यापक है तपस्या का सिद्धान्त। उदार दृष्टिकोण से प्रतिपादित हुआ है तपस्या का सिद्धान्त। कहा गया—तुम शरीर, वाणी और मन—इन तीनों का प्रवर्तन करो तो ऐसा करो कि तुम्हारा शोधन हो जाए। इनका निवर्तन करो तो ऐसा करो कि तुम्हारा संवरण हो जाए। इस आधार पर हमारी पुरुषार्थ की क्रिया तीन भागों में बंट जाती है। एक प्रवर्तन वह है, जो बाहर से गंदगी को खींचता है, बुरे विचारों और बुरे प्रभावों को खींचता है, बुरे कार्यों का आकर्षण करता है। एक प्रवर्तन वह है, जो केवल सत् का आकर्षण करता है, बुराई का आकर्षण नहीं करता। यह दूसरा प्रवर्तन है। तीसरा है निवर्तन। न सत् का ग्रहण और न असत् का ग्रहण सत्-असत्-दोनों का निवर्तन। ध्यान करने वाला व्यक्ति असत् का निरोध करता है, वह संवर है। वह सत् का प्रवर्तन करता है, यह तपस्या है। उसके बाद वह बिलकुल निवृत्ति में चला जाता है, सत् और असत्-दोनों का निरोध कर देता है।

हमारी प्रवृत्ति त्रि-आयामी है। इस प्रवृत्ति-चक्र के साथ हमें चलना है। प्रश्न है—हमारा क्या काम होना चाहिए? हमारा दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए? हम यह ध्यान दें— चौबीस घंटे में असत् का प्रवर्तन कितना होता

है ? सत् का प्रवर्तन कितना होता है ? निवर्तन कितना होता है ? हम ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे असत् का निवर्तन कर सकें, इसके साथ साथ सत् का भी निवर्तन कर सकें । यदि हम असत् के निवर्तन और सत् के प्रवर्तन का ठीक मूल्यांकन कर पाएं तो जीवन-क्रम बदल जाए, जीवन की चर्या बदल जाए ।

जीवन-चर्या का दर्शन

तपस्या की प्रक्रिया जीवन-चर्या का महत्त्वपूर्ण दर्शन है । भोजन, चलना-फिरना, उठना-बैठना आदि हमारे जीवन की अनिवार्यता है । इन्द्रियों से काम लेना भी अनिवार्यता है । हमारे जीवन की ये तीन मुख्य प्रवृत्तियां बनी हुई हैं— आहार, गति-क्रिया और इन्द्रिय-प्रवृत्ति । इन तीनों का निवर्तन करना या इन तीनों का सम्यक् प्रवर्तन करना तपस्या का पहला पाठ है । आहार के द्वारा एक व्यक्ति अहिंसा की दिशा में भी जा सकता है, हिंसा और अपराध की दिशा में भी जा सकता है । आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से यह प्रमाणित हो गया है कि आहार का ठीक विवेक न हो तो वह व्यक्ति को हिंसक भी बना देता है और यदि आहार का ठीक विवेक हो तो वह अहिंसा की भावना को भी जन्म दे देता है । ऐसा ही इन्द्रियों के साथ घटित होता है । वे हमें स्वस्थ भी बना देती हैं, रुग्ण भी बना देती हैं । हम सम्यक् प्रवर्तन या निवर्तन करना सीखें । आंख से काम लेना है तो आंख को मूंदकर काम लेना भी जरूरी है । कान से सुनना है तो उसे बंद करके सुनना भी जरूरी है ।

साधक तत्त्व

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि तपस्या के सारे प्रकार उदात्त जीवन जीने के लिए आवश्यक हैं । ये सब शोधन और निरोध के साधन हैं । यदि हम इनके प्रति जागरूक बन जाएं तो जीवन की सारी धुरी ठीक घूमने लग जाती है । जागरूकता का साधन है— ध्यान और एकाग्रता ।

नव तत्त्वों में संवर और निर्जरा— ये दोनों तत्त्व साधना की दृष्टि से

मनोवृत्ति को बदला जा सकता है

अत्यन्त उपादेय हैं, महत्त्वपूर्ण हैं। बाधक तत्त्व चार हैं— अजीव, पुण्य, पाप और बंध। ये चारों आध्यात्मिक विकास में बाधक बनते हैं। हम साधना के साधक तत्त्वों का विमर्श करें।

प्रक्रिया-संवर की

साधना का एक साधक तत्त्व है— संवर। संवर के पांच प्रकार हैं— सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय, और अयोग। सबसे पहले चंचलता का निरोध करना है। हम इस भाषा में समझें, स्वतः चालित क्रिया चलती रहे और इच्छाचालित क्रिया को बंद कर दें। इससे आंशिक निरोध हो गया, पूर्ण निरोध नहीं हुआ। किन्तु ऐसा करते करते एक अवस्था आती है, स्वतःचालित और इच्छाचालित— दोनों क्रियाएं रुक जाती हैं। जहां कोई विचार नहीं होता, आलंबन नहीं होता वहां पूर्ण निरोध होता है। पारिभाषिक शब्दावली में कहा जा सकता है— सबसे पहले योग का निरोध करें, योग को रोकने का अभ्यास करें। योग कम होगा तो कषाय कम होता चला जाएगा, अकषाय संवर पुष्ट बनेगा। इससे एक बात स्पष्ट होती है—जितनी हमारी चंचलता है उतनी ही उत्तेजना है। क्रोध, मान, माया और लोभ— इन सबका प्रकोप होता है चंचलता के कारण। आवेश कम होंगे तो प्रमाद भी कम हो जाएगा। प्रमाद कम होगा तो आकांक्षा कम हो जाएगी, अविरति कम हो जाएगी, व्रत संवर का विकास होने लगेगा। जब यह सब घटित होगा, तब मिथ्या-दर्शन कहां टिकेगा? तत्त्वज्ञान की दृष्टि से प्रथम है सम्यक्त्व और साधना की दृष्टि से प्रथम है योग का निरोध, अयोग संवर। यह संवर की प्रक्रिया है।

प्रक्रिया शोधन की

शोधन की प्रक्रिया में सबसे पहले आहार-शुद्धि पर ध्यान दें, उसके बाद गति-क्रिया पर ध्यान दें। उसका उपाय है— कायक्लेश। काया को साधें। उसके बाद इन्द्रियों को साधें। आयुर्विज्ञान में अब तक इस पर बहुत ध्यान नहीं दिया गया है। इन्द्रियों की क्रिया से भी बीमारियों का गहरा संबंध है। इंद्रियों की अति चंचलता और लोलुपता बीमारियों को निमन्त्रण देती है।

शोधन की प्रक्रिया में इस बात पर ध्यान दिया गया— इंद्रियां भी नियंत्रित और संतुलित होनी चाहिए। उसके बाद अहंकार पर ध्यान दिया गया। जब तक अहंकार है तब तक अतीत का शोधन नहीं हो सकता, विनम्रता और सेवा-भावना विकसित नहीं हो सकती। इसी क्रम में कहा गया— शोधन करना है तो कुछ नया ज्ञान बढ़ना चाहिए, निर्मलता बढ़नी चाहिए। निर्मलता के साथ एकाग्रता और निर्विकल्पता का अभ्यास भी परिपक्व बनना चाहिए। ऐसी स्थिति बने कि विचार आए ही नहीं। इस शोधन की प्रक्रिया की अन्तिम बात है— विसर्जन। व्यक्ति दुनियां से अपने आपको अलग कर ले। वह दुनिया के बीच रहते हुए भी अपने आपको अकेला बना ले। यह ध्यान की निष्पत्ति है, तपस्या का अन्तिम परिणाम है। शोधन का यह क्रम है और इस क्रम से मनोवृत्ति को बदला जा सकता है। यह परिवर्तन की प्रक्रिया है। इसका माध्यम है— तपस्या और निर्जरा। इसी माध्यम से हम अपने नए व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं।

आत्मा और परमात्मा

अस्तित्व का एक छोर है आत्मा और दूसरा छोर है परमात्मा । एक छोर है—जीव और दूसरा छोर है— मोक्ष । जीव से मोक्ष और आत्मा से परमात्मा । इसके लिए मानव प्रयत्न करता रहा है, साधना करता रहा है । जीव जीवन के साथ चलता है, परमात्मा केवल अस्तित्व के साथ चलता है । जीवन एक अंतहीन शृंखला है, उसके अनन्त रहस्य हैं । हम कितना ही प्रयत्न करें पर जीवन के सारे रहस्य जाने नहीं जा सकते । जैसे-जैसे वैज्ञानिकों ने खोज की, कुछ सचाइयों का पता चला किन्तु उसके अनन्त रहस्य फिर भी अनजाने बने हुए हैं । जैसे-जैसे हम जीवन के कुछ रहस्यों को खोज पाते हैं वैसे-वैसे उससे और अधिक रहस्य प्रकट होते रहते हैं ।

मोक्ष की प्रक्रिया

प्रश्न होता है— जीव से मोक्ष तक, आत्मा से परमात्मा तक पहुंचाने वाले आलंबन क्या हैं ? कहा गया— सबसे पहले जीव और अजीव को जानो । जीव अलग है और अजीव अलग है, इस बात को जानो । जीव और अजीव को जानने के बाद जीव की गति को जानो— जीव गति करता है, परिभ्रमण करता है । गति और परिभ्रमण का मूल हेतु है— पुनर्जन्म । पहली सचाई है— जीव है । दूसरी सचाई है— पुनर्जन्म है, नाना प्रकार के रूपों में जीव अपना जीवन चलाता है । वह कभी मनुष्य बनता है, कभी पशु, कभी नारक और कभी देव बनता है । तीसरी सचाई है— कर्म । कर्म के बिना पुनर्जन्म का कोई हेतु नहीं बनता । चौथी सचाई है— बंध और मोक्ष । जो कर्म को जानता है, वह पुण्य और पाप को जान लेता है, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है ।

पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष— ये चार मूल सूत्र पकड़ में आ जाते हैं तो मोक्ष की प्रक्रिया समझ में आ जाती है। जिसने इन चार सूत्रों को पकड़ लिया, जीवन का पूरा चित्र उसके सामने आ गया।

जीव : मोक्ष

जीवन के रहस्यों को कोई नहीं जानता। जो वर्तमान में हो रहा है, आदमी उसे ही मानता है। वह अतीत को भी पूरा नहीं जानता, भविष्य को तो जानता ही नहीं है। हम जीवन के शेष सारे रहस्यों को छोड़कर मूलभूत चार रहस्यों को पकड़ लें— जीव है, पुनर्जन्म है, कर्म है, बंध और मोक्ष है। कर्म बंध रहा है, वह बंधते-बंधते रुक गया और मोक्ष हो गया। मोक्ष और परमात्मा क्या है? जब तक कर्म बंध रहा है तब तक आत्मा आत्मा है, जीव है। जिस क्षण कर्म का बंध समाप्त हो गया, आत्मा परमात्मा बन गया, जीव का मोक्ष हो गया।

मोक्ष की व्याख्या

जैन दर्शन में मोक्ष की जो व्याख्या की गई है, उसका अर्थ है— आत्मा का अपने रूप में अवस्थित हो जाना मोक्ष है। न कोई स्थान का नाम है मोक्ष और न कोई धाम का नाम है मोक्ष। न शरीर से संबंध, न पुद्गल से संबंध और न पदार्थ से संबंध। इन सबसे संबंध-विच्छेद हो जाना ही परमात्मा होना है। जैन दर्शन की परमात्मा संबंधी जो अवधारणा है, वह भिन्न प्रकार की है। कुछ दार्शनिक मानते हैं— जो अनुग्रह और निग्रह करता है, जो भाग्य-विधाता है, जो न्याय करता है, अन्यायी को दण्ड देता है, वह परमात्मा है। किन्तु जैन दर्शन का परमात्मा न अनुग्रह करना जानता है न निग्रह करना जानता है, वह केवल अपने आप में रहता है।

परमात्मा

प्रश्न है— स्थूल नियमों में जीने वाला इन सूक्ष्म नियमों में कैसे विश्वास करेगा? स्थूल जगत् में परमात्मा उसे माना जाता है, जिसमें नेतृत्व के दोनों

गुण हों— अनुग्रह करना और निग्रह करना, न्याय को प्रोत्साहन देना और अन्याय का प्रतिकार करना । जैन दर्शन का परमात्मा नेतृत्व के गुण से भी रहित है । फिर कोई आदमी ऐसे परमात्मा की पूजा और भक्ति क्यों करेगा ? जो उदासीन, मध्यस्थ या तटस्थ है, उससे व्यक्ति का क्या हित सधेगा ?

विशुद्ध आत्मा

ईश्वर के साथ, परमात्मा के साथ जो कर्तृत्व की बात जोड़ी गई है, वह बड़ी विवादास्पद है । हम जिसे ईश्वर या परमात्मा मानें और उसके साथ कर्तृत्व को जोड़ें, यह बड़ा अटपटा-सा लगता है । जहां ईश्वर के साथ कर्तृत्व को जोड़ा, वहां हमने ईश्वर को अपनी भूमिका पर उतार दिया, एक सामान्य आदमी बना दिया । ईश्वर एक विशुद्ध आत्मा है, राग-द्वेष मुक्त आत्मा है । उसका आसन ऐसा होना चाहिए कि वह सबके लिए समान हो और सब उसके लिए समान हो । जिसके ज्ञान-दर्शन पर कोई आवरण नहीं रहा, जिसके कार्य में कोई विघ्न और बाधा नहीं रही, जिसे विश्व का कोई तत्त्व प्रभावित नहीं कर सकता, जो सर्वथा अप्रभावित हो गया और अपने आनन्द में लीन हो गया, वह है— परमात्मा । उसके साथ कर्तृत्व की बात को जोड़ना संगत प्रतीत नहीं होता ।

सूक्ष्म जगत् : स्थूल जगत्

परमात्मा पर स्थूल जगत् के नियम लागू नहीं होते । सूक्ष्म जगत् के नियमों से जुड़ा होता है— परमात्मा । स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् के नियम अलग-अलग होते हैं । एक व्यक्ति के सामने दो चीजें पड़ी हैं— एक है सूक्ष्म बाल, दूसरा है—काठ का बड़ा टुकड़ा । व्यक्ति के हाथ में उन्हें काटने के लिए कुल्हाड़ी है । व्यक्ति कुल्हाड़ी चलाएगा तो काठ का बड़ा टुकड़ा कट जाएगा पर बाल नहीं कटेगा । जिस कुल्हाड़ी से काठ कट सकता है, उससे छोटा-सा बाल नहीं कट सकता । क्योंकि स्थूल जगत् के नियम सूक्ष्म पर लागू नहीं होते । हम स्थूल जगत् के नियमों से परिचित हैं किन्तु सूक्ष्म जगत् के नियमों को नहीं जानते । इसी कारण आत्मा और परमात्मा के विषय में बहुत सारे प्रश्न और संदेह पैदा होते हैं । जब तक आदमी केवल स्थूल नियमों

की सीमा में घिरा रहेगा तब तक वह संदेहों के घेरे में रहेगा । जब वह सूक्ष्म नियमों को जानने लगेगा, सारे संदेह मिटते चले जाएंगे । बहुत सारे चमत्कार, जिन्हें आम आदमी चमत्कार मानता है, एक वैज्ञानिक के लिए कोई चमत्कार नहीं होते, क्योंकि वह नियमों को जानता है ।

स्थूल जगत् से परे

हम स्थूल जगत् के नियमों को स्थूल जगत् के संदर्भ में देखें, सूक्ष्म जगत् के नियमों को सूक्ष्म जगत् के संदर्भ में देखें । जो व्यक्ति स्थूल जगत् के बटखरों से सूक्ष्म जगत् को तोलना चाहता है, वह सदा भ्रान्ति में रहता है । सम्यग् दृष्टि वह होता है, जो स्थूल जगत् के नियमों को स्थूल जगत् में और सूक्ष्म जगत् के नियमों को सूक्ष्म जगत् में लागू करता है । जब आत्मा परमात्मा बन जाती है तब उसका स्थूल जगत् के नियमों से संबंध टूट जाता है । उस स्थिति में केवल अस्तित्व रहता है और अस्तित्व पर व्यक्तित्व का नियम लागू नहीं होता ।

प्रश्न है आनंद का

एक बड़ा प्रश्न है— जब परमात्मा कर्ता नहीं है तो वह अनंतकाल तक बैठा-बैठा क्या करेगा ? क्या उसे ऊब और थकान नहीं आएगी ? इस प्रश्न का होना स्वाभाविक है । हम हलचल भरे जीवन को ज्यादा पसंद करते हैं । हमने यह मान लिया है— तोड़-फोड़ करना, लड़ना-भिड़ना, इधर-उधर की करते रहना, यही जीवन का आनंद है। हमें इसमें रस है, इसलिए हम शेष को नीरस मान लेते हैं । हमें इस नियम का पता नहीं चलता— अपने अस्तित्व में होना परमात्मा होना है, परम आनन्द में होना है ।

जो लोग मोक्ष के संदर्भ में ऐसा प्रश्न उठाते हैं, वे निगोद के संदर्भ में इस प्रश्न को क्यों नहीं उठाते ? एक एकेन्द्रिय जीव अनंतकाल तक उसी अवस्था में रहता है, अव्यक्त जीवन जीता है । क्या वह एक ही अवस्था में रहता हुआ थकता नहीं है ? जीव अनंतकाल तक निगोद में रहता है । यदि वह अनंतकाल मोक्ष में रह जाए तो कौनसी बड़ी बात है ?

कोई सीमातीत नहीं है

एक सार्वभौम नियम है— अनंतकाल तक कोई भी सांसारिक जीव एक अवस्था में रह नहीं सकता। जीव मनुष्य बनता है तो एक निश्चित आयु-सीमा से बंधा होता है। पशु, पक्षी या देव बनता है तो एक निश्चित आयु-सीमा से बंधा होता है। संसार में पुनर्जन्म करने वाले जितने जीव हैं, वे अपनी निश्चित आयु-सीमा के साथ चलते हैं। वे जीते हैं और जीवन की मर्यादा समाप्त होने पर चले जाते हैं। निरवधि वाला स्थान एक ही है, और वह है अपने आपमें होना। यह लोक सूक्ष्म जीवों से कैसे भरा पड़ा है? इस संसार में जीवों की क्या स्थिति है? शुद्ध आत्माओं की क्या स्थिति है? यदि हम इन सब बातों को जान लें तो आत्मा या परमात्मा के संदर्भ में होने वाले बहुत सारे संदेह समाप्त हो जाएं।

वर्तमान को देखें

महायान में इस भावना पर बल दिया गया—

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं न पुनर्भवम् ।

कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनां अर्तिनाशनम् ॥

मुझे न राज्य चाहिए, न स्वर्ग चाहिए। मैं चाहता हूँ— जो प्राणी दुःख से पीड़ित हैं, उनका दुःख मिट जाए। इसके सिवाय मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

यह भावना उदात्त है। पर नियम क्या है? मरने के बाद कौन कहाँ जाएगा, इस नियम का ज्ञान किसे है? हम अनंत जन्म-श्रृंखला की क्या बात करें? हमें अगले जन्म का भी पता नहीं है। हम यह मानकर चलें— जगत् का प्रत्येक प्राणी प्राकृतिक नियमों से बंधा हुआ है। प्राकृतिक, जागतिक नियमों (Universal Law) से कोई भी मुक्त नहीं है। हम वर्तमान में अच्छा ज्ञान करें, अच्छा आचरण और व्यवहार करें, हमारे हाथ में इतना ही है। यदि हमारा वर्तमान अच्छा है तो भविष्य अच्छा होगा। मोक्ष आखिर है कहाँ? वह कहीं बाहर नहीं है। आत्मा से भिन्न नहीं है परमात्मा। आत्मा ही परमात्मा में परिणत हो जाता है, बदल जाता है। परमात्मा का बीज है आत्मा। जब

बीज प्रस्फुटित होता है, परमात्मा बन जाता है। हम परमात्मा को बाहर खोजेंगे तो वह नहीं मिलेगा।

यात्रा करें भीतर की

मध्यकालीन संतों ने इस सचाई को बहुत उजागर किया कि तुम तीर्थों की यात्रा करते हो किन्तु असली तीर्थ तुम्हारे भीतर है। कस्तूरी मृग बाहर ही बाहर दौड़ता रहता है, किन्तु अपनी नाभि में बसी कस्तूरी से अनजान बना रहता है। तुम बाहर की यात्रा बंद करो, अपने भीतर आओ। ध्यान का महत्त्व इसी बिन्दु पर आधारित है। समस्या यह है— भीतर की खोज नहीं चलती, हम बाहर की यात्रा में ही उलझे हुए हैं। हम एक बार बाहरी यात्रा को स्थगित करें, भीतर की यात्रा आरंभ करें। भीतर की यात्रा करने का अर्थ है— ध्यान-साधना और इसी यात्रा का नाम है— आत्मा से परमात्मा तक पहुंचना।

यही है मोक्ष

यदि यह पूछा जाए— आत्मा और परमात्मा में दूरी कितनी है ? तो मेरा उत्तर होगा— ज्यादा से ज्यादा एक मीटर। हम शक्तिकेन्द्र से ज्ञानकेन्द्र की यात्रा करें, यह परमात्मा की यात्रा है। प्राणधारा को नीचे से उठाना और ऊपर ले जाना, यही है हमारा मोक्ष। जो वृत्तियां जागृत होकर मनुष्य को संसार में ले जाती हैं, वे नीचे की ओर जाती हैं। जो वृत्तियां जागृत होकर मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाती हैं, वे ऊपर की ओर जाती हैं। स्वार्थ हमेशा नीचे की ओर जाएगा। जितने परमार्थ के विचार हैं, वे ऊपर की ओर जाएंगे। नीचे से ऊपर की ओर जाना परमात्मा होना है।

संसार और मोक्ष

कहा जा सकता है— शरीर में ही संसार है और शरीर में ही मोक्ष है। यदि यह परिकल्पना स्पष्ट हो, हम मोक्ष को समझें तो जीव से अस्तित्व तक की, आत्मा से परमात्मा तक की यात्रा निर्बंध सम्पन्न हो जाती है। हम इस सचाई को जानें। इसमें दृढ़ आस्था, विशुद्ध चेतना और भावक्रिया बहुत

सहायक होती है । इनसे भी ज्यादा सहायक बनती है हमारी जागरूकता । जैसे-जैसे जागरूकता बढ़ेगी, परमात्मा तक पहुंचने की दिशा स्पष्ट होती चली जाएगी । यह दिशा की स्पष्टता ही आत्मा से परमात्मा तक की यात्रा को सम्पन्न करने में प्रमुख हेतु बनती है ।

आचार्य महाप्रज्ञ की प्रमुख कृतियां

- मन के जीते जीत
- आभा मण्डल
- किसने कहा मन चंचल है
- जैन योग
- चेतना का ऊर्ध्वारोहण
- एकला चलो रे
- मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि
- अपने घर में
- एसो पंच णमोक्कारो
- मैं हूं अपने भाग्य का निर्माता
- समस्या को देखना सीखें
- नया मानव : नया विश्व
- भिक्षु विचार दर्शन
- अर्हम्
- मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
- समय के हस्ताक्षर
- आमंत्रण आरोग्य को
- महावीर की साधना का रहस्य
- घट-घट दीप जले
- अहिंसा तत्व दर्शन
- अहिंसा और शान्ति
- कर्मवाद
- संभव है समाधान
- मनन और मूल्यांकन
- जैन दर्शन और अनेकान्त
- शक्ति की साधना
- धर्म के सूत्र
- जैन दर्शन : मनन और मीमांसा
आदि-आदि



जैन धर्म
के

साधना-सूत्र

आचार्य महाप्रज्ञ